पद्य-प्रभा

सम्पादक

पं० हरिशङ्कर शर्मा

प्रकाशक

रामप्रसाद एण्ड ब्रदर्स, आगरा

मूल्य १)

नम्र निवेदन

'पद्य-प्रभा' में हिन्दी के बीस सुप्रसिद्ध कवियों की चुनी हुई, कुछ कविताओं का संग्रह किया गया है। प्राचीन और अर्वाचीन दोनों प्रकार की कविताओं के नमूने, पाठक, इस छोटी-सी पुस्तक में देखेंगे। यह किताब विशेष कर कविता-प्रेमी विद्यार्थियों के लिये तय्यार की गई है, इसी से इसके अन्त में, समझने की सुगमता के विचार से, कविताओं में आये पौराणिक कथा-प्रसंगों का भी स्पष्टीकरण कर दिया है। प्रत्येक कवि की कविता के पूर्व उसका संक्षिप्त परिचय भी दे दिया है। हम उन आदरणीय कवि महानुभावों के परम कृतज्ञ है जिन्होंने हमारी विनम्र विनती पर अपनी कविताओं को इस 'संग्रह' में सम्मिलित करने के लिये सहर्ष आज्ञा प्रदान की है। हम समस्त कवि महोदयों को, इस अनल्प अनुग्रह के लिये, कृतज्ञता पूर्वक हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

आगरा,
श्रावणी, १९८६ वि०

सूची:—

पद्य-प्रभा

—— ० —

कबीर

[कबीरसाहब का जन्म और मरण क्रमशः संवत् १४५५ और १५७५ वि० में हुआ बताया जाता है। इस विषय में और भी कई मत हैं। कहते हैं, कबीरसाहब एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से पैदा हुए थे, परन्तु उनका पालन-पोषण एक जुलाहे ने किया। कबीरसाहब ने कई जगह अपनी जाति जुलाहा प्रकट की है। वह बालकपन से ही बड़े सच्चे और धर्मात्मा थे। कबीर पढ़े-लिखे न थे, परन्तु साधु-सन्तों की संगति से उन्होंने धर्म के गूढ़ रहस्यों को भली भाँति समझ लिया था। कबीर साखी और भजन बनाकर सुनाया करते थे, जिन्हें इनके चेले याद कर लेते थे। पीछे से यही सब सामग्री एकत्र कर ली गई, और अब पुस्तकाकार में उपस्थित है। कबीरसाहब के बीजक बड़े आदर के साथ देखे जाते हैं। इनके नाम से 'कबीर-पंथ' नामक एक मत भी प्रचलित हुआ है। कबीर की कविता बड़ी ही भावपूर्ण और सहृदयों को मस्त कर देने वाली है। उसमें अधिकतर अध्यात्मवाद का वर्णन है।]

कबीर के दोहे

सील छिमा जब ऊपजै, अलख दृष्टि तब होय।
बिना सील पहुँचै नहीं, लाख कथै जो कोय॥ १॥

सीलवन्त सबतें बड़ा, सर्व रतन की खानि ।
तीन लोक की सम्पदा, रही सील में आनि ॥ २ ॥

ज्ञानी, ध्यानी, संजमी, दाता, सूर, अनेक ।
जपिया, तपिया, बहुत हैं, सीलवन्त कोई एक ॥ ३ ॥

छिमा बड़न को चाहिये, छोटन को उतपात ।
कहा विष्णु को घटि गयो, जो भृगु मारी लात ॥ ४ ॥

जहाँ दया तहाँ धर्म है, जहाँ लोभ तहँ पाप ।
जहाँ क्रोध तहँ काल है, जहाँ छिमा तहँ आप ॥ ५ ॥

जो जल बाढ़ै नाव में, घर में बाढ़ै दाम ।
दोऊ हाथ उलीचिये, यहि सज्जन कौ काम ॥ ६ ॥

हाड़ बड़ा हर भजन कर द्रव्य बड़ा कछु देहु ।
अकल बड़ा उपकार कर, जीवन का फल येहु ॥ ७ ॥

देह धरे का गुन यही, देह देह कछु देहु ।
बहुरि न देही पाइये, अबकी देहु सो देहु ॥ ८ ॥

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवाँ बेपरवाह ।
जिनको कछू न चाहिये, सोई साहंसाह ॥ ९ ॥

माँगन गये सो मरि रहे, मरे सो माँगन जाहिं ।
तिनसे पहिले वे मरे, होत करत जो नाहिं ॥ १० ॥

गोधन, गजधन, बाजिधन, और रतन धन खान ।
जब आवै सन्तोष-धन, सब धन धूरि समान ॥ ११ ॥

रूखा सूखा खाइ के, ठंडा पानी पीव ।
देखि बिरानी चूपड़ी, मत ललचावो जीव ॥ १२ ॥

मरि जाऊँ मागूँ नहीं, अपने तन के काज।
परमारथ के कारने, मोहि न आवै लाज॥ १३॥

धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कछु होय।
माली सींचै सौ घड़ा, ऋतु आये फल होय॥ १४॥

कबिरा धीरज के धरे, हाथी मन भर खाय।
टूक एक के कारने, स्वान घरै घर जाय॥ १५॥

काल करै सो आज कर, आज करै सो अब्ब।
पल में परलै होयगी, बहुरि करैगो कब्ब॥ १६॥

या दुनियाँ में आय के, छाँड़ि देइ तू ऐंठ।
लेना होय सो लेइ ले, उठी जाति है पैंठ॥ १७॥

कबिरा आप ठगाइये, और न ठगिये कोय।
आप ठगे सुख ऊपजै, और ठगे दुख होय॥ १८॥

जो तोकों काँटा बुवे, ताहि बोव तू फूल।
तोहि फूल को फूल है, वाको है तिरसूल॥ १९॥

दुर्बल को न सताइये, जाकी मोटी हाय।
बिना जीव की स्वास से, लोह भसम हो जाय॥ २०॥

ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय।
औरन को सीतल करै, आपहुँ सीतल होय॥ २१॥

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदे साँच है, ताके हिरदे आप॥ २२॥

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजौं आपना, मुझ सा बुरा न कोय॥ २३॥

दाया दिल में राखिये, तू क्यों निरदय होय ।
साईं के सब जीव हैं, कीरी कुञ्जर दोय ॥ २४ ॥

माँगन मरन समान है, मत कोई माँगो भीख ।
माँगन ते मरना भला, यह सतगुरु की सीख ॥ २५ ॥

दोष पराये देख कै, चले हसन्त हसन्त ।
आपन याद न आवई, जिनका आदि न अन्त ॥ २६ ॥

औगुन कहौं सराब का, ज्ञानवन्त सुन लेय ।
मानुष ते पसुआ करै, द्रव्य गाँठि का देय ॥ २७ ॥

निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय ।
बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करै सुभाय ॥ २८ ॥

जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ ।
जो बौरा डूबन डरा, रहा किनारे बैठ ॥ २९ ॥

साध, सती औ सूरमा, ज्ञानी औ गजदन्त ।
एते निकसि न बाहुरें, जो जुग जाहिं अनन्त ॥ ३० ॥

चलन चलन सब कोई कहै, मोहि अँदेसा और ।
साहब से परिचय नहीं, पहुँचोगे किहि ठौर ॥ ३१ ॥

कबिरा संगत साधु की, हरै और की व्याधि ।
ओछी संगति क्रूर की, आठो पहर उपाधि ॥ ३२ ॥

जाउ बैद घर आपने, तेरा किया न होय ।
जिन या वेदन निरमई, भला करेगा सोय ॥ ३३ ॥

लगी लगन छूटै नहीं, जीभ चौंच जरि जाय ।
मीठो कहा अँगार को, जाहि चकोर चबाय ॥ ३४ ॥

कबीर के पद

करम-गति टारे नाहिं टरी।
मुनि वसिष्ठ से पण्डित ज्ञानी सोध के लगन धरी।
सीता-हरन, मरन दसरथ को वन में विपति परी॥
कहँ वह फन्द कहाँ वह पारधि, कहँ वह मिरगचरी।
सीया को हरि लै गो रावन सुवरन लंक जरी॥
नीच हाथ हरिचन्द बिकाने बलि पाताल धरी।
कोटि गाय नित पुन्न करत नृग गिरगिट जोन परी॥
पांडव जिनके आप सारथी तिन पर विपति परी।
दुरजोधन को गरब घटायो जदुकुल नास करी॥
राहु-केतु औ भानु-चन्द्रमा विधि संजोग परी।
कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो होनी होके रही॥ १

माया महा ठगिनि हम जानी।
तिरगुन फाँस लिये कर डोलै बोलै मधुरी बानी॥
केसव के कमला ह्वै बैठी सिव के भवन भवानी।
पंडा के मूरत ह्वै बैठी तीरथ में भई पानी॥
योगी के योगिन ह्वै बैठी राजा के घर रानी।
काहू के हीरा ह्वै बैठी काहू के कौड़ी कानी॥
भक्तन के भक्तिनि ह्वै बैठी ब्रह्मा के ब्रह्मानी।
कहै 'कबीर' सुनो हो सन्तो यह सब अकथ कहानी॥ २

नाम सुमिर, पछतायगा।
पापी जियरा लोभ करत है आज काल उठि जायगा॥
लालच लागी जनम गँवाया माया भरम भुलायगा।
धन जोबन का गरब न कीजै कागद ज्यों गलि जायगा॥
जब जम आय केस गहि पटकै ता दिन कछु न बसायगा।
सुमिरन भजन दया नहिं कीन्हीं तो मुख चोटा खायगा॥
धरमराय जब लेखा माँगे क्या मुख लेके जायगा।
कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो साध संग तरि जायगा॥ २॥

सूरदास

[सूरदास का जन्म-मरण काल क्रमशः १५४० और १६२० वि० के लगभग बताया जाता है। इनका जन्म आगरा और मथुरा के मध्य, रुनकता के समीप सीही नामक ग्राम में, एक सारस्वत ब्राह्मण के घर हुआ था। ये गऊ घाट पर रहते थे और जन्मान्ध न थे। इनकी बनाई 'सूर-सारावली,' 'सूरसागर', 'साहित्यलहरी' आदि पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। सूरदास की कविता में भक्ति-भाव की प्रधानता है। इन्होंने कृष्णलीला बड़ी ही सरलता और सुन्दरता के साथ वर्णन की है। सूरदास की गणना 'अष्ट-छाप के कवियों में है। सूरदासजी काव्य-शास्त्र के पंडित और पुराणों के उत्कृष्ट ज्ञाता थे। ८० वर्ष की अवस्था में इन्होंने गोकुल में शरीर छोड़ा।]

सूरदास के पद

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलराइ मल्हावै जोइ सोइ कछु गावै॥
मेरे लाल को आउ निदरिया काहे न आनि सुवावै।
तू काहे न बेगि सों आवै तोको कान्ह बुलावै॥
कबहुँ पलक हरि मूंद लेत हैं कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै ह्वै रहि कर करि सैन बतावै॥
यहि अन्तर अकुलाइ उठे हरि जसुमति मधुरै गावै।
जो सुख 'सूर' अमर मुनि दुर्लभ सो नँद भामिनि पावै॥ १

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी।

तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी ॥
काढ़त गुहत न्हवावत ओंछुत नागिन सी भ्वैं लोटी ।
काचो दूध पिआवत पचि पचि देत न माखन रोटी ॥ २ ॥

जसोदा कहँ लौं कीजै कानि ?
दिन प्रति कैसे सही परत है, दूध-दही की हानि ॥
अपने या बालक की करनी जो तुम देखो आनि ।
गोरस खाय खवावै लरिकन भाजन भाजन भानि ॥
मैं अपने मन्दिर के कोने माखन राख्यो जानि ।
सोई जाइ तुम्हारे ढोटा लीनो है पहिचानि ॥
बूझी ग्वालिन घर में आयो नेकु न संका मानी ।
सूरस्याम तब उतर बनायो चींटी काढ़त पानी ॥ ३ ॥

(प्रभाती)

जागिये गोपाललाल ग्वाल द्वार ठाढ़े ।
रैनि अंधकार गयो, चन्द्रमा मलीन भयो ।
तारागन देखियत नहि, तरनि-किरन बाढ़े ॥
मुकुलित भए कमल-जाल, गुंज करत भृङ्ग माल ।
प्रफुलित वन पुहुप डार, कुमुदिनि कुम्हिलानी ॥
गँधरव गुनगान करत, स्नान दान नेम धरत ।
हरत सकल पाप, बदत विप्र वेद-बानी ॥

बोलत नँद बार बार, देखै मुख तुव कुमार।
गायन भई बड़ी बार, बृन्दावन जैबे ॥
जननी कहति उठो स्याम, जानत जिय रजनि जाम।
'सूरदास' प्रभु कृपालु, तुम को कछु खैवे ॥ ४ ॥

कहां लौं बरनो सुन्दरताई।
खेलत कुँवर कनक आँगन में नैन निरखि छबि छाई।
कुलहि लसत सिर स्याम सुभग अति बहु बिधि सुरँग बनाई।
मानो नव घन ऊपर राजत मघवा धनुष चढ़ाई ॥
अति सुदेस मृदु हरत चिकुर मन मोहन मुख बगराई।
मानों प्रगट कंज पर मंजुल अलि अवली घिरि आई ॥
नील स्वेत पर पीत लाल मनि लटकनि भाल रुराई।
सनि गुरु असुर देव गुरु मिलि मनु भौम सहित समुदाई ॥
दूधदंत दुति कहि न जाति अति अद्भुत इक उपमाई।
किलकत हँसत दुरत प्रगटत मनु घन में बिज्जु छटाई ॥
खंडित बचन देत पूरन सुख अलप अलप जलपाई।
घुटुरन चलत रेनु तनु मंडित 'सूरदास' बलि जाई ॥५॥

सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरबराय करि पानि गहावति डगमगाय धरै पैया ॥
कबहुँक सुन्दर बदन बिलोकति उर आनन्द भरि लेति बलैया।
कबहुँक बलि को टेरि बुलावति इहि आँगन खेलो दोउ भैया ॥
कबहुँक कुल-देवता मनावति चिरजीवौ मेरो बाल कन्हैया।
'सूरदास' प्रभु सब सुखदायक अति प्रताप बालक नँदरैया ॥६॥

(सारंग)

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पर आवै।
कमलनैन को छाँड़ि महातम और देव को धावै॥
परम गंग को छाँड़ि पियासो दुर्मति कूप खनावै।
जिन मधुकर अंबुज रस चाख्यो क्यों करील फल खावै॥
'सूरदास' प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै॥७॥

(सोहनी)

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतंग करी दीपक सों आपै प्रान दह्यौ॥
अलि सुत प्रीति करी जल-सुत सों सम्पति हाथ गह्यो।
सारँग प्रीति करी जो नाद सों संमुख बान सह्यो॥
हम जो प्रीति करी माधौ सों चलत न कछू कह्यो।
'सूरदास' प्रभु बिन दुख दूनो नैननि नीर बह्यो॥८॥

(गौरी)

जादिन मन पंछी उड़ि जै हैं।
तादिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जै हैं॥
घर के कहैं बेगि ही काढ़ो भूत भये कोऊ खै हैं।
जा प्रीतम सों प्रीति घनेरी सोऊ देखि डरै हैं॥

कह वह ताल कहां वह सोभा देखत धूरि उड़ै हैं।
भाइ बंधु अरु कुटुम कबीला सुमिरि सुमिरि पछितै हैं॥
बिन गोपाल कोउ नहिं अपनो जस अपजस रहि जै हैं।
जो 'सूरज' दुर्लभ देवन को सतसंगति में पै हैं॥ ९॥

(बिलावल)

ऊधो मन माने की बात।
दाख छोहारा छाँड़ि अमृत फल विषकीरा विष खात।
जो चकोर को देइ कपूर कोइ तजि अंगार अघात।
मधुप करत घर कोरे काठ में बँधत कमल के पात॥
ज्यों पतंग हित जानि आपनो दीपक सों लपिटात।
'सूरदास' जा को मन जासों सोई ताहि सुहात॥ १०॥

(भैरवी)

कहाँ लौं कहिये ब्रज की बात।

सुनहु स्याम तुम बिन उन लोगनि जैसे दिवस बिहात॥
गोपी ग्वाल गाइ गोसुत वै मलिन-बदन कृस गात।
परम दीन जनु सिसिर हिमीहत अंबुजगन बिन पात॥
जो कहुँ आवत देखि दूरतें सब पूँछति कुसलात॥
चलन न देत प्रेम आतुर उर कर चरनन लपटात॥
पिक चातक बन बसन न पावहिं, वायस बलिहिं न खात।
सूरस्याम संदेसन के डर, पथिक न उहि मग जात॥११॥

मेरे नैन निरखि सुख पावत।
संध्या समै गोप गोधन सँग बनतें बने लाल ब्रज आवत।
बलि बलि जाऊँ मुखारविंद की मंद मंद सुन्दर गति धावत॥
नटवर रूप अनूप छबीलो सबही के मन भावत।
गुंजा उर बनमाल मुकट सिर वेनु रसाल बजावत॥
कोटि किरनि मनि मुख परकासत उडुपति कोटि लजावत।
चन्दन खौरि काछनी की छबि सबके मनहिं चुरावत।
सूरस्याम नागर नारिन को वासर बिरह बसावत॥१२॥

छाँडु मन हरि बिमुखन को संग।
जाके संग कुबुद्धी उपजै परत भजन में भंग।
कागहि कहा कपूर खवाये स्वान न्हवाये गंग॥
खर को कहा अरगजा लेपन मरकट भूषन अंग।
पाहन पतित बान नहिं बेधत रीतो करत निषंग॥
'सूरदास' खल कारी कामरि चढ़त न दूजो रंग॥१३॥

प्रभु मोरे अवगुन चित न धरो।
समदरसी है नाम तिहारो चाहो तो पार करो॥
इक नदिया इक नार कहावत मैलोहि नीर भरो।
जब दोनों मिलि एक बरन भये सुरसरि नाम परो॥
इक लोहा पूजा में राखत इक घर बधिक परो।
पारस गुन अवगुन नहिं चितवै कंचन करत खरो॥
यह माया भ्रम जाल कहावै 'सूरदास' सगरो।
अबकी बार नाथ! मोहि तारो नहिं प्रन जात टरो॥१४॥

बिहागड़ा

माधो जू मन माया बस कीनो।

लाभ हानि कछु समुझत नाहीं ज्यों पतंग तनु दीनो ॥
गृह दीपक छन तेल तूल तिय सुत ज्वाला अति जोर।
मैं मतिहीन मर्म नहिं जान्यो पर्‍यो अधिक करि दौर ॥
विवस भयो नलिनी के अलि ज्यों बिनु गुन मोहि गह्यो।
मैं अज्ञान कछू नहिं समझो पर दुख पुञ्ज सह्यो ॥
बहुतक दिवस भये या जग में भ्रमत फिर्‍यो मतिहीन।
सूरस्याम सुन्दर जो सुमरै क्यों होवे गति दीन ॥१५॥

तुलसीदास

[तुलसीदासजी का जन्म १५८९ वि० में, राजापुर में हुआ था वे सरयूपारीण ब्राह्मण थे और उनका पहिला नाम रामबोला था। कहते हैं कि, इन्हें अपनी स्त्री के तीख भरे वाक्यों को सुनकर विरक्ति हो गई थी। विरक्त होकर तुलसीदासजी काशी में रहने लगे और वहीं ग्रन्थ लिखने का कार्य प्रारम्भ किया। इनके लिखे २१ ग्रन्थ बताये जाते हैं। इनका 'रामचरित-मानस' सबसे बड़ा और सब से अधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है। इनकी कविता में लालित्य, माधुर्य और प्रसादगुण की भरमार रहती है। जितना प्रचार 'रामचरित-मानस' का हुआ, उतना कदाचित् किसी और ग्रन्थ का नहीं हुआ। तुलसीदासजी ने सं० १६८० वि० में, श्रावण शुक्ला सप्तमी को असी और गंगा के संगम पर शरीर छोड़ा।]

तुलसीदास के पद

ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि राम-भगति-सुर-सरिता आस करत ओसन की॥
धूम-समूह निरखि चातक ज्यों तृषित जानि मति घन की।
नहिं तहँ सीतलता, न बारि पुनि हानि होत लोचन की॥
ज्यों गज काँच-विलोकि सेन जड़ छांह आपने तन की।
टूटत अति आतुर अहार बस छति बिसारि आनन की॥
कहँलों कहौं कुचालु कृपानिधि जानत हौ गति जन की।
'तुलसिदास' प्रभु हरहु दुसह दुख करहु लाज निज पन की॥१॥

जिनके प्रिय न राम वैदेही।
तजिए तिन्हैं कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रह्लाद, विभीषन बन्धु, भरत महतारी।
गुरु बलि तज्यो कन्त व्रज बनितन भे सब मंगलकारी॥
नातो नेह राम को मानिय सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अञ्जन कौन आँखि जो फूटै बहुतै कहो कहाँ लौं॥
'तुलसी' सो सब भाँति आपनो पूज्य प्रानते प्यारो।
जातें होइ सनेह राम सों सोई मतो हमारो॥ २

केसव कहि न जाय का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिये
सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिन लिखा चितेरे।
धोए मिटै न मरै भीति दुख पाइय यहि तनु हेरे
रविकर नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं
बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं
कोउ कह सत्य झूँठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि माने।
'तुलसिदास' परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचाने॥ ३

ममता तू न गई मेरे मन तें।
पाके केस जनम के साथी लाज गई लोकन तें॥
तन थाके कर कम्पन लागे जोति गई नैनन तें।
सरवन बचन न सुनत काहू के बल गए सब इन्द्रिन तें॥
टूटे दसन बचन नहिं आवत सोभा गई मुखन तें।
कफ पित बात कंठ पर बैठे सुतहिं बुलावत करतें॥

भाई-बन्धु सब परम पियारे नारि निकारत घर तें ॥
जैसे ससि मण्डल बिच स्याही छुटै न कोटि जतन तें ।
'तुलसिदास' बलि जाउँ चरनतें लोभ पराये धन तें ॥४॥

राम-विवाह

(रामचरित-मानस से)

सतानन्द पद बन्दि प्रभु, बैठे गुरु पहं जाइ ।
चलहु तात मुनि कहेउ तब, पठएउ जनक बुलाइ ॥
सीय स्वयंवर देखिय जाई । ईस काहि धौं देइ बड़ाई ॥
लषन कहा जस भाजन सोई । नाथ कृपा तव जापर होई ।
हरषे मुनि सब सुनि वर बानी । दीन्ह असीस सबहिं सुखमानी ॥
पुनि मुनिवृन्द समेत कृपाला । देखन चले धनुष मखसाला ॥
रंगभूमि आये दोउ भाई । अस सुधि सब पुरबासिन पाई ॥
चले सकल गृहकाज बिसारी । बालक जुवा जरठ नरनारी ॥
देखी जनक भीर भइ भारी । सुचि सेवक सब लिये हँकारी ॥
तुरत सकल लोगन पहं जाहू । आसन उचित देहु सब काहू ॥
सब मंचन ते मंच इक, सुन्दर बिसद बिसाल ।
मुनि समेत दोउ बंधु तहँ, बैठारे महिपाल ॥
प्रभुहिं देखि सब नृप हिय हारे । जनु राकेस उदय भय तारे ॥
अस प्रतीत सब के मन माहीं । राम चाप तोरब सक नाहीं ॥
बिन भंजेहु भव-धनुष बिसाला । मेलिहि सीय राम उर माला ॥
अस बिचारि गवनहु घर भाई । जस प्रताप बल तेज गँवाई ॥
बिहँसे अपर भूप सुनि बानी । जे अविवेक अन्ध अभिमानी ॥
तोरेहु धनुष ब्याहु अवगाहा । बिन तोरे को कुँअरि बियाहा ॥

एक बार कालहु किन होऊ। सियहित समर जितब हम सोऊ॥
यह सुनि अपर भूप मुसुकाने। धरमसील हरिभगत सयाने॥

जानि सुअवसर सीय तब पठई जनक बोलाइ।
चतुर सखी सुन्दर सकल सादर चलीं लिवाइ॥

चली संग लइ सखी सयानी। गावति गीत मनोहर बानी॥
सोह नवलतनु सुन्दर सारी। जगत जननि अतुलित छवि भारी॥
भूषन सकल सुदेस सुहाये। अंग अंग रचि सखिन्ह बनाये॥
रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी॥
हरषि सुरन्ह दुन्दुभी बजाई। बरषि प्रसून अपछरा गाई॥
पानिसरोज सोह जयमाला। अबचट चितये सकल भुआला॥
सीय चकितचित रामहिं चाहा। भये मोहबस सब नरनाहा॥
मुनि समीप देखे दोऊ भाई। लगे ललकि लोचन निधि पाई॥

गुरुजन लाज समाज बड़ देखि सीय सकुचानि।
लागि बिलोकन सखिन तन रघुबीरहि उर आनि॥

रामरूप अरु सिय छबि देखी। नर नारिन परिहरी निमेखी॥
सोचहिं सकल कहत सकुचाहीं। बिधिसन बिनय करहिं मनमाहीं॥
हरु बिधि बेगि जनक जड़ताई। मति हमार असि देहु सुहाई॥
बिन बिचारि पन तजि नरनाहू। सीय राम कर करइ बियाहू॥
जग भल कहहि भाव सब काहू। हठ कीन्हे अन्तहु उर दाहू॥
एहि लालसा मगन सब लोगू। बर साँवरो जानकी जोगू॥
तब बंदीजन जनक बुलाये। बिरदावली कहत चलि आये॥
कह नृप जाइ कहहु पन मोरा। चले भाट हिय हरष न थोरा॥

बोले वंदी बचन बर सुनहु सकल महिपाल ।
पन बिदेह कर कहहिं हम भुजा उठाय बिसाल ॥

नृपभुजबल बिधु सिवधनु राहू । गरुअ कठोर बिदित सब काहू ॥
रावन बान महा भट भारे । देखि सरासन गवहिं सिधारे ॥
सोइ पुरारि कोदण्ड कठोरा । राजसमाज आजु जेइ तोरा ॥
त्रिभुवन जय समेत बैदेही । बिनहिं बिचार बरइ हठ तेही ॥
सुनि पन सकल भूप अभिलाषे । भट मानी अतिसय मन माखे ॥
परिकर बाँधि उठे अकुलाई । चले इष्टदेवन्ह सिर नाई ॥
तमकि ताक तकि सिवधनु धरहीं । उठइ न कोटि भाँति बल करहीं ॥
जिनके कछु बिचार मन माहीं । चाप समीप महीप न जाहीं ॥

तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप उठहि न चलहिं लजाइ ।
मनहुँ पाइ भट बाहुबल अधिक अधिक गरुआइ ॥

भूप सहस दस एकहिं बारा । लगे उठावन टरइ न टारा ॥
डगइ न सम्भु सरासन कैसे । कामी बचन सतीमन जैसे ॥
सब नृप भये जोग उपहासी । जैसे बिनु बिराग संन्यासी ॥
कीरति बिजय बीरता भारी । चले चाप कर बरबस हारी ॥
श्रीहत भये हारि हिय राजा । बैठे निज निज जाइ समाजा ॥
नृपन्ह बिलोकि जनक अकुलाने । बोले बचन रोष जनु साने ॥
दीप दीप के भूपति नाना । आये सुनि हम जो पन ठाना ॥
देव दनुज धरि मनुज सरीरा । बिपुल बीर आये रनधीरा ॥

कुँवरि मनोहर बिजय बड़ि कीरति अति कमनीय ॥
पावनहार बिरंचि जनु रचेउ न धनुदमनीय ॥

कहहु काहि यह लाभ न भावा। काहु न शङ्कर चाप चढ़ावा॥
रहउ चढ़ाउब तोरब भाई। तिल भरि भूमि न सके छुड़ाई॥
अब जन कोउ माखइ भट मानी। बीर बिहीन मही मैं जानी॥
तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू॥
सुकृत जाइ जौ पन परिहरऊँ। कुँअरि कुँआरि रहउ का करऊँ॥
जौ जनतेउ बिनु भट भुवि भाई। तो पन करि होतेउँ न हँसाई॥
जनक बचन सुनि सब नरनारी। देखि जानकिहि भये दुखारी॥
माखे लषन कुटिल भई भौंहैं। रदपट फरकत नयन रिसौंहैं॥

कहि न सकत रघुबीर डर लगे बचन जनु बान।
नाइ रामपदकमल सिर बोले गिरा प्रमान॥

रघुबंसिन महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहइ न कोई॥
कही जनक जसि अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुल-मनि जानी॥
सुनहु भानुकुल-पंकज-भानू। कहउँ सुभाव न कछु अभिमानू॥
जो तुम्हार अनुसासन पावउँ। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावउँ॥
काँचे घट जिमि डारउँ फोरी। सकउँ मेरु मूलक इव तोरी॥
तव प्रताप महिमा भगवाना। का बापुरो पिनाक पुराना॥
नाथ जानि अस आयसु होऊ। कौतुक करउँ बिलोकिय सोऊ॥
कमल नाल जिमि चाप चढ़ावउँ। जोजन सत प्रमान लेइ धावउँ॥

तोरउं छत्रकदण्ड जिमि तव प्रतापबल नाथ।
जो न करउँ प्रभुपद सपथ कर न धरउँ धनु भाथ॥

लषन सकोप बचन जब बोले। डगमगानि महि दिग्गज डोले॥
सकल लोक सब भूप डराने। सिय हिय हरष जनक सकुचाने॥

गुरु रघुपति सब मुनि मनमाहीं। मुदित भये पुनि पुनि पुलकाहीं॥
सैनहिं रघुपति लषन निवारे। प्रेम समेत निकट बैठारे॥
बिस्वामित्र समय सुभ जानी। बोले अति सनेहमय बानी॥
उठहु राम भंजहु भव चापा। मेटहु तात जनक परितापा॥
सुनि गुरु बचन चरन सिर नावा। हरष बिषाद न कछु उर आवा॥
ठाढ़ भये उठि सहज सुहाये। ठवनि जुवा मृगराज लजाये॥

राम बिलोके लोग सब चित्र लिखे से देखि।
चितई सीय कृपायतन जानी बिकल बिसेखि॥

देखी बिपुल बिकल बैदेही। निमिष बिहात कलपसम तेही॥
तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा। मुए करइ का सुधा तड़ागा॥
का बरषा जब कृषी सुखाने। समय चूकि पुनि का पछिताने॥
अस जिय जानि जानकी देखी। प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेखी॥
गुरुहिं प्रनाम मनहिं मन कीन्हा। अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा॥
दमकेउ दामिनि जिमि जब लयऊ। पुनि धनु नभ-मंडल सम भयऊ॥
लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सब ठाढ़े॥
तेहि छन राम मध्य धनु तोरा। भरेउ भुवन धुनि घोर कठोरा॥

छन्द

भरे भुवन घोर कठोर रव रबि बाजि तजि मारग चले।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले॥
सुर असुर मुनि कर कान दीन्हे सकल बिकल बिचारहीं।
कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति बचन उचारहीं॥

सोरठा

शंकर चाप जहाज सागर रघुबर बाहुबल।
बूड़सु सकल समाज चढ़े जो प्रथमहिं मोहबस॥

प्रभाती

जागिये कृपानिधान जानिराय रामचन्द्र
जननि कहै बार बार भोर भयो प्यारे।
राजिव लोचन बिसाल प्रीति बापिका मराल
ललित बदन कमल उपर मदन कोटि वारे॥
अरून उदित बिगत सर्वरी ससांक किरनि हीन
दीन दीप जोति मलिन दुति समूह तारे॥
मनहु ज्ञान घन प्रकास बीते सब भौ बिलास
आस त्रास तिमिरतोम तरनि तेज जारे॥
बोलत खग निकर मुखर मधुर करि प्रतीत सुनहु
श्रवन प्रान जीवन धन मेरे सुत प्यारे॥
मनहु वेद बन्दी मुनिवृन्द सूत मागधादि
बिरुद बदत जय जय जय जयत कैटभारे॥
सुनत बचन प्रिय रसाल जागे अतिसय दयाल
भागे जंजाल बिपुल दुख कदम्ब टारे।
तुलसिदास अति अनन्द देख के मुखारबिन्द
छूटे भ्रम फन्द परम मन्द द्वन्द्व भारे॥

पद

बैठी सगुन मनावति माता।
कब अइहैं मेरे लाल कुसल घर
कहहु काग फुरि बाता॥
दूध भात की दौनी दैहौं
सोने चोंच मढ़ैहौं।
जब सिय सहित बिलोकि नयन भरि
राम लखन उर लैहौं॥
अवधि समीप जानि जननी जिय
अति आतुर अकुलानी।
गनक बुलाइ पाइ परि पूछति
प्रेम मगन मृदुबानी॥
तेहि अवसर कोउ भरत निकट ते
समाचार लै आयो।
प्रभु आगमन सुनत तुलसी मनु
मीन मरत जल पायो॥

केशवदास

[केशवदास का जन्म सं० १५९४ के लगभग ओड़छा के एक ब्राह्मण (सनाढ्य) परिवार में हुआ था। ये संस्कृत के बड़े विद्वान् थे। इनकी कविता बहुत क्लिष्ट और गूढ़ है। इनके लिखे ग्रन्थों में से 'राम-चन्द्रिका', 'कवि-प्रिया', 'रसिक-प्रिया' और 'विज्ञान-गीता' बहुत प्रसिद्ध हैं। इनकी कविता की गूढ़ता के विषय में प्रसिद्ध है—"कविका दीन न चहै बिदाई। पूछै केसव की कविताई॥" महाकवि केशव वृद्धावस्था में भी रसिक बने रहे थे। अपने आपने बालों की सफ़ेदी देख कर बड़े पश्चाताप पूर्वक कहा था—

केसव केसनि अस करी, जस अरिहू न कराहिं।
चन्द्रवदनि मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहिं॥

केशवदास की कविता में अर्थ-गाम्भीर्य और काव्य सम्बन्धी पाण्डित्य की प्रचुरता है।]

अयोध्याकाण्ड

राम-वनगमन

(रामचन्द्रिका से)

(दोहा)

रामचन्द्र लक्ष्मण सहित, घर राखे दशरत्थ।
बिदा कियो ननसार* को, सँग शत्रुघ्न भरत्थ॥ १॥

(तोटक छन्द)

दशरत्थ महा मन मोद रये। तिन बोलि वशिष्ठहिं मंत्र लये॥
दिन एक कहो शुभ शोभरयो। हम चाहत रामहिं राज दयो॥२॥

---

*—ननसार = ननहाल।

यह बात भरत्थ की मातु सुनी। पठऊँ बन रामहिं बुद्धि गुनी॥
तेहि मंदिर में नृप सों विनयो। वर देहु हुतो हमकों जु दयौ॥३॥

नृप बात कही हँसि हेरि हियो।
दशरथ—वर मागि सुलोचनि मैं जु दियो॥
कैकेयी—नृपता सुविशेष भरत्थ लहैं।
बरषैं बन चौदह राम रहैं॥४॥

(पद्धटिका छंद)

यह बात लगी उर बज्रतूल।
हिय फाट्यो ज्यों जीरण दुकूल॥
उठि चले विपिन कहँ सुनत राम।
तजि तात मात तिय बंधु धाम॥५॥

कौशल्या और राम

(मौक्तिकदाम छंद)

गये तहँ राम जहाँ निज मात।
राम—कही यह बात कि हैं बन जात॥
कछू जनि जी दुख पावहु माइ।
सु देहु अशीष मिलौं फिरि आइ॥६॥
कौशल्या—रहौ चुप ह्वै सुत क्यों बन जाहु।
न देखि सकैं तिनके उर दाहु॥
लगी अब बाप तुम्हारेहि बाइ।
करै उलटी विधि क्यों कहि जाइ॥७॥

(अर्द्ध रूपक छंद)

राम—अन्न देइ सीख देइ राखि लेइ प्राण जात।
राज बाप मोल लै करै जो दीह पोषि गात॥
दास होइ पुत्र होइ शिष्य होइ कोइ माइ।
शासना[1] न मानई तो कोटि जन्म नर्क जाइ॥ ८॥

(हरनी छन्द)

कौशल्या—मोहि चलौ बन संग लियै।
पुत्र तुम्हैं हम देखि जियैं।
औधपुरी महँ गाज परै।
कै अब राज भरत्थ करै॥ ९॥

(तोमर छन्द)

राम—तुम क्यो चलो बन आजु।
जिन शीश राजत राजु॥
जिय जानिये पति देव।
करि सर्व भाँतिन सेव॥ १०॥
पति देइ जो अति दुःख।
मन मानि लीजै सुःख॥
सब जक्त[2] जानि अमित्र।
पति जानि केवल मित्र॥ ११॥

१—शासना = आज्ञा। २—जक्त = जगत्, संसार।

(अमृत गति छन्द)

नित पति पंथहिं चलिये। दुख सुख को दलु दलिये॥
तन मन सेवहु पति को। तब लहिये शुभ गति को॥१२॥

(दोहा)

मनसा वाचा कर्मणा, हम सों छाँड़ो नेहु।
राजा को विपदा परी, तुम तिन की सुधि लेहु॥१३॥

सीता-प्रति राम का उपदेश

(पद्धटिका छन्द)

उठि रामचन्द्र लक्ष्मण समेत।
तब गये जनकतनया निकेत॥
राम—सुनु राजपुत्रिके एक बात।
हम वन पठये हैं नृपति तात॥१४॥
तुम जननि सेव कहँ रहहु बाम।
कै जाहु आजु ही जनकधाम॥
सुनु चन्द्रवदनि गजगमनि ऐनि।
मन रुचे सो कीजै जलजनैनि॥१५॥

(नाराच छन्द)

सीता—न हौं रहौं न जाहुँ जू विदेहधाम को अबै।
कहीजु बात मातु पै सो आजु मैं सुनी सबै॥
लगे छुधाहि मा भली बिपत्ति माँझ नारिये।
पियास त्रास नीर बीर युद्ध में सम्हारिये॥१६॥

(सुप्रिया छन्द)

लक्ष्मण—बन महँ विकट विविध दुख सुनिये।
गिरि गह्वर मग अगमहि गुनिये॥
कहुँ अहि हरि कहुँ निशिचर चरहीं।
कहुँ दव दहन दुसह दुख दहहीं॥ १७॥

(दण्डक)

सीता—केशोदास नींद भूख प्यास उपहास त्रास
दुःख को निवास विष मुखहू गह्यो परै।
वायु को वहन दिन दावा को दहन बड़ी
बाड़वा अनल ज्वाल जाल में रह्यो परै॥
जीरन जनम जात जोर जुर[1] घोर पीर
पूरन प्रकट परिताप क्यों कह्यो परै।
सहि हो तपन ताप पति के प्रताप रघु—
बीर को विरह बीर मोसो न सह्यो परै॥ १८॥

लक्ष्मण-प्रति राम का उपदेश

(विशेषक छन्द)

राम—धाम रहौ तुम लक्ष्मण राज की सेव करौ।
मातनि के सुनि तात सुदीरघ दुःख हरौ॥
आइ भरत्थ कहा धौं करै जिय भाय गुनौ।
जो दुख देइँ तो लै उरगौ[2] यह बात सुनौं॥ १९॥

१—जुर=ज्वर। २—उरगौ=अंगीकार करो, सहो।

(दोहा)

लक्ष्मण—शासन मेटो जाय क्यों, जीवन मेरे हाथ।
ऐसी कैसे बूझिये, घर सेवक वन नाथ॥ २०॥

वन-यात्रा

(द्रुतविलम्बित छन्द)

विपिन मारग राम विराजहीं।
सुखद सुन्दरि सोदर भ्राजहीं॥
विविध श्रीफल सिद्धि मनो फल्यो।
सकल साधन सिद्धिहि लै चल्यो॥ २१॥

(दोहा)

राम चलत सब पुर चल्यो, जहँ तहँ सहित उछाह।
मनो भगीरथ पथ चल्यो, भागीरथी प्रवाह॥२२॥

(चंचला छन्द)

रामचन्द्र धाम तें चले सुने जबै नृपाल।
बात को कहै सुनै सु ह्वै गये महा बिहाल॥
ब्रह्मरन्ध्र फोरि जीव यों मिल्यो सुलोक जाइ।
गेह¹ चूरि ज्यों चकोर चन्द्र में मिलै उड़ाइ॥ २३॥

(चंचरी छन्द)

कौन हौ कित ते चले कित जात हौ केहि काजजू।
कौन की दुहिता बहू कहि कौन की यह बाम जू।

१—गेह = पिंजड़ा।

एक गाउँ रहौ कि साजन मित्र बन्धु बखानिये।
देश के परदेश के किधौं पंथ की पहिचानिये ॥२४॥

(सुन्दरी छन्द)

घाम को राम समीप महाबल।
सीतहि लागत है अति सीतल ॥
ज्यों घनसंयुत दामिनि के तन।
होत हैं पूषन[1] के कर भूषन ॥२५॥
मारग की रज तापित है अति।
केशव सीतहि सीतल लागति ॥
ज्यों पद-पंकज ऊपर पायनि।
दै जो चलै तेहिते सुखदायिनि ॥२६॥

(दोहा)

प्रति पुर औ प्रति ग्राम की, प्रति नगरन की नारि।
सीताजू को देखि कै, वर्णत हैं सुखकारि ॥२७॥

× × × × ×

मारग यों रघुनाथ जू, दुख सुख सब ही देत।
चित्रकूट पर्वत गये, सोदर सिया समेत ॥२८॥

भरत का आना

(दोधक छन्द)

आनि भरत्थ पुरी अवलोकी।
स्थावर जंगम जीव सशोकी ॥

1—पूषन के कर = सूर्य की किरण।

भाट नहीं विरदावलि साजैं।
कुंजर गाजैं न दुन्दुभि बाजैं ॥२९॥
राजसभा न विलोकिय कोऊ।
शोक गहे तब सोदर दोऊ॥
मंदिर मातु विलोकि अकेली।
ज्यों बिन वृक्ष विराजति बेली ॥३०॥

(तोटक छन्द)

तब दीरघ देखि प्रणाम कियो।
उठि कै उन कंठ लगाइ लियो॥
न पियो जल सम्भ्रम भूलि रहे।
तब मातु सों बैन भरत्थ कहे ॥३१॥

भरत-कैकई का प्रश्नोत्तर

(विजया छन्द)

मातु कहाँ नृप तात गये सुरलोकहिं क्यों सुत शोक भये।
सुत कौन सुराम कहाँ है अबै बन लक्ष्मण सीय समेत गये॥
बन काज कहा कहि केवल मो सुख तोको कहाँ सुख पाने भए।
तुमको प्रभुता धिक तोको कहा अपराध बिना सिगरेई हये ॥३२॥

(दोहा)

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible], कौशल्या के पास ॥३३॥

भरत-कौशल्या वार्त्ता

(तोटक छन्द)

तब पायन जाइ भरत्थ परे।
उन भेंटि उठाइ के अंक भरे॥
सिर सूंघि बिलोकि बलाइ लई।
सुत तो बिन या बिपरीत भई॥३४॥

(तारक छन्द)

भरत—सुनु मातु भई यह बात अनैसी।
जु करी सुतभर्तृ-विनाशिनि जैसी॥
यह बात भई अब जानत जाके।
द्विज दोष परैं सिगरे सिर ताके॥३५॥
जिनके रघुनाथ बिरोध बसै जू।
मठधारिन के तिन पाप ग्रसै जू॥
रस राम रस्यो मन नाहिं न जाको।
रण में नित होइ पराजय ताको॥३६॥

कौशल्या—जनि सौंह करौ तुम पुत्र सयाने।
अति साधु-चरित्र तुम्हें हम जाने॥
सब को सब काल सदा सुखदाई।
जिय जानति हौं सुत ज्यों रघुराई॥३७॥

दशरथ-दाह

(चंचरी छन्द)

हाइ हाइ जहाँ तहाँ सब ह्वै रही सिगरी पुरी।
धाम धामनि सुन्दरी प्रगटीं सबै जे हुतीं दुरी॥
लै गये नृपनाथ कौ शव लोग श्रीसरयू तटी।
राजपत्नि समेत पुत्रन विप्रलाप गह्यौ रटी॥३८॥

(सोमराजी छन्द)

करी अग्नि अर्चा, मिटी प्रेतचर्चा।
सबै राजधानी, भई दीन बानी॥३९॥

(कुमारललिता छन्द)

क्रिया भरत कीनी, वियोग रस भीनी।
सजी गति नवीनी, मुकुन्द पद लीनी॥४०॥

भरत का चित्रकूट गमन

(तोटक छन्द)

तजि सिद्ध समाधिन केशव दीरघ दौरि दरीन में आसन साजे।
भूतल भूधर हाले अचानक आइ भरत्थ के दुन्दुभि बाजे ॥४२॥

(दोहा)

रामचन्द्र लक्ष्मण सहित, शोभित सीता संग।
केशवदास सहासउठि, चढ़े धरणिधर शृंग ॥४३॥

(मोहन छन्द)

लक्ष्मण—देखहु भरत चमू सजि आये।
जानि अबल हमको उठि धाये ॥
हींसत हय बहु बारन गाजे।
जहँ तहँ दीरघ दुन्दुभि बाजे ॥४४॥

(तारक छन्द)

गजराजनि ऊपर पाखर सोहैं।
अति सुन्दर शीश शिरोमणि मोहैं ॥
मणि घूँघुरु घंटन के रव बाजैं।
तड़ितायुत मानहु वारिद गाजैं ॥४५॥

(विजय छन्द)

युद्ध को आज भरत्थ चढ़े धुनि दुन्दुभि की दशहूँ दिशि छाई।
प्रात चली चतुरंग चमू बरनी सो न केशव कैसेहुँ जाई ॥
यो सब के तनत्राननि में झलकी अरुणोदय की अरुणाई।
अंतर ते जनु रंजन को रजपूतन की रज ऊपर आई ॥४६॥

लक्ष्मण का कोप

(दण्डक छन्द)

लक्ष्मण—मारि डारो अनुज समेत याहि खेत आजु
मेटि पारो दीरघ वचन निज गुरु को।
सीतानाथ सीता साथ बैठे देखि छत्रतर,
यहि सुख शोषौं शोक सूत ही के उर को।
केशोदास सविलास बीस बिसे वास होय
कैकेयी के अंग अंग शोक पुत्रजुर को।
रघुराजजू को साज सकल छिड़ाइ लेउँ
भरतहिं आजु राज देउँ प्रेतपुर को ॥४७॥

राम-भरत मिलन

(कुसुमविचित्रा छन्द)

तब सवै सेना वहि थल राखी।
मुनि जन लीन्हे सँग अभिलाषी॥
रघुपति के चरणन सिर नाये।
उन हँसि कै गहि कंठ लगाये ॥४८॥

(दोधक छन्द)

भरत—मातु सवै मिलिबे कहँ आई।
ज्यों सुत को सुरभी सुखदाई॥
लक्ष्मण त्यों चढि कै रघुराई।
पायन जाय परे दोउ भाई ॥४९॥

मातनि कंठ उठाय लगावे।
प्राण मनो मृत देहनि पावे॥
आइ मिली तब सीय सभागी।
देवर सासुन के पग लागी॥५०॥

(तोमर छन्द)

तब पूछियो रघुराइ। सुख है पिता तन माइ॥
तब पुत्र को मुख जोइ। क्रम ते उठीं सब रोइ॥५१॥

(दोधक छन्द)

आँसुन सों सब पर्वत धोये।
जंगम को जड़जीवहु रोये॥
सिद्धबधू सिगरी सुनि आईं॥
राजबधू सबई समुझाईं॥५२॥

(मोहन छन्द)

धरि चित्त धीर। गये गंग तीर॥
शुचि है शरीर। पितु तर्पि नीर॥५३॥

(तारक छन्द)

भरत—घर को चलिये अब श्रीरघुराई।
जन हौं तुम राज सदा सुखदाई॥
यह बात कही जलसों गल भीन्यो।
उठि सोदर पाइँ परे तब तीन्यो॥५४॥

(दोधक छन्द)

राम—राज दियो हमको बन रूरो।
राज दियो तुमको अब पूरो॥
सो हमहूँ तुमहूँ मिलि कीजै।
बाप को बोलु न नेकहु छीजै॥५५॥

(दोहा)

राजा को अरु बाप को, बचन न मेटे कोइ।
जौ न मानिये भरत वौ, मारे को फल होइ॥५६॥

(दोहा)

मौन गही यह बात कहि, छोड़ो सबै विकल्प[1]।
भरत जाइ भागीरथी, तीर कर्यो संकल्प॥५७॥

भरत का लौटना

(उपेन्द्रवज्रा छन्द)

चले बली पावन पादुका लै।
प्रदक्षिणा राम सियाहु को दै॥
गये ते नंदीपुर बास कीनो।
सबधु श्रीरामहिं चित्त दीनो॥५८॥

(दोहा)

केशव भरतहि आदि दै, सकल नगर के लोग।
बन समान घर घर बसे, सकल विगत संभोग॥५९॥

इति अयोध्या काण्ड

१—विकल्प = विचार।

रहीम

[यह मुसलमान थे, परन्तु इन्होंने हिन्दी की बड़ी ही सुन्दर कविता की है। रहीम का पूरा नाम अब्दुलरहीम ख़ानख़ाना तथा इनके पिता का नाम बैरमख़ाँ था। रहीम का जन्म १६१३ वि० में हुआ था। बादशाह अकबर इनका बड़ा आदर करते थे। ये अकबर के प्रधान सेनापति और मन्त्री थे। कहते हैं, गंगकवि को इन्होंने एक ही छन्द पर, प्रसन्न होकर ३६ लाख रुपये दे दिये थे। रहीम के दोहे नीति और ज्ञान की बातों से भरे हुए हैं। इनकी उपमायें बड़ी सुन्दर होती हैं। हिन्दी में ही नहीं, संस्कृत और फ़ारसी में भी रहीम ने बड़ी भावपूर्ण कविता की है। इनके रचे 'रहीम-सतसई', 'बरवै नायिका भेद', 'रास-पंचाध्यायी', 'शृङ्गार-सोरठ', 'मदनाष्टक', 'दीवानफ़ारसी' आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।]

रहीम-दोहावली

'रहिमन' बात अगम्य कै, कहन सुनन कै नाहिं।
जो जानत सो कहत नहिं, कहत सो जानत नाहिं॥ १॥

अमर बेलि बिनु मूल कै, प्रतिपालत जो ताहि।
'रहिमन' ऐसे प्रभुहिं तजि, खोजत फिरिये काहि॥ २॥

दीन लखै सब जगत को, दीनहिं लखै न कोइ।
जो 'रहीम' दीनहिं लखै, दीनबन्धु सम होइ॥ ३॥

'रहिमन' राम न उर धरै, रहत विषय लपिटाइ।
पसु खरि खात सवाद सों, गुरु गुलियाये खाइ॥ ४॥

कमला थिर न 'रहीम' कह, यह जानत सब कोइ।
पुरुष पुरातन की बधू, क्यों न चञ्चला होइ ॥ ५ ॥

'रहिमन' मनहिं लगाइ कै, देखि लेहु किन कोइ।
नर कों बस करिबो कहा, नारायन बस होइ ॥ ६ ॥

जो 'रहीम' तनु हाथ है, मनसा कहुँ किन जाहिं।
जल में ज्यों छाया परे, काया भीजति नाहिं ॥ ७ ॥

'रहिमन' रहिला की भली, जो परसै चित लाइ।
परसत मन मैला करै, सो मैदा जरि जाइ ॥ ८ ॥

'रहिमन' पानी राखिये, बिनु पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरैं, मोती मानुष चून ॥ ९ ॥

'रहिमन' रहिबो वा भलो, जौ लौं सील समूच।
सील ढील जब देखिये, तुरत कीजिये कूच ॥१०॥

सम्पति भरम गँवाइ कै, बसे रहे कछु नाहिं।
ज्यों 'रहीम' ससि रहत है, दिवस अकासहि माहिं ॥११॥

कोहि कै प्रभुता नहिं घटी, पर घर गये 'रहीम'।
कौन बड़ाई जलधि मिलि, गंग नाम भा धीम ॥१२॥

'रहिमन' अँसुआ नैन ढरि, जिय दुख प्रगट करेइ।
जाको घरते काढ़िये, क्यों न भेद कहि देइ ॥१३॥

तेहि प्रमान चलिबो भलो, जो सब दिन ठहराइ।
उमड़ि चलै जल पार ते, जो 'रहीम' बढ़ि जाइ ॥१४॥

'रहिमन' अति मत कीजिये, गहि रहिये निज कानि।
अतिसै फूलै सहिजनो, डारपात कै हानि ॥१५॥

धनि रहीम जलपंक कहँ, लघु जिय पियत अघाइ।
उदधि बड़ाई कौन है, जगत पियासो जाइ ॥१६॥

खीरा सिर धरि काटिये, मलिये लौन लगाइ।
करुये मुख कहँ चाहिये, 'रहिमन' यही सजाइ ॥१७॥

'रहिमन' राज सराहिये, ससि सम सुखद जो होइ।
कहा बापुरो भानु है, तपै तरैयनि खोइ ॥१८॥

'रहिमन' धागा प्रेम कर, मत तोरउ चटकाइ।
टूटे से फिर ना मिलै, मिले गाँठि परि जाइ ॥१९॥

'रहिमन' प्रीति न कीजिये, जस खीराने कीन।
ऊपर से तो दिल मिला, भीतर फाँकैं तीन ॥२०॥

रहिमन खोजो ऊख में, कहाँ न रस कै खानि।
जहाँ गाँठ तहँ रस नहीं, यहीं प्रीति कै हानि ॥२१॥

जहाँ गाँठ तहँ रस नहीं, यह जानत सब कोय।
मड़ये तर कै गाँठि में, आठ गाँठि रस होय ॥२२॥

पावस देखि 'रहीम' मन, कोयल साधी मौन।
अब दादुर बक्ता भये, हम कहँ पूछत कौन ॥२३॥

रहिमन' लाख भली करौ, अगुनी अगुन न जाइ।
राग सुनत पय पियतहू, साँप सहिज धरि खाइ ॥२४॥

'रहिमन चाक कुम्हार कर, माँगे दिया न देइ।
छेद में डंडा डारि कै, चाहै नाँद लइ लेइ ॥२५॥

'रहिमन' पेटे सों कहत, क्यों न भये तुम पीठि।
भूखे मान बिगारहू, भरे बिगारहु दीठि ॥२६॥

मथत मथत माखन रहै, दही मही बिलगाय।
'रहिमन' सोई मीत है, भीर परे ठहराय ॥३८॥

कह 'रहीम' संपति सगे, बनत बहुत बहु रीत।
विपति कसौटी जे कसे, सोई साँचे मीत ॥३९॥

जाल परे जल जात बहि, तजि मीनन कर मोह।
'रहिमन' मछरी नीर कर, तऊ न छाँड़ति छोह ॥४०॥

कदली सीप भुजंग मुख, स्वाँति एक गुन तीन।
जैसी संगति बैठिये, तैसोई फल दीन ॥४१॥

'रहिमन' नीचन संग बसि, लगत कलंक न काहि।
दूध कलारी कर गहे, मदहि कहैं सब ताहि ॥४२॥

बसि कुसंग चाहत कुसल, यह रहीम अपसोस।
महिमा घटी समुद्र कै, रावन बसा परोस ॥४३॥

जो 'रहीम' उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसग।
चन्दन विष व्यापत नहीं, लपिटे रहत भुजग ॥४४॥

कहु रहीम कैसे निभै, केर बेर कर संग।
वे डोलत रस आपुने, उनके फाटत अंग ॥४५॥

'रहिमन' जिह्वा बावरी, कहि गई सरग पताल।
आपु तो कहि भीतर भई, जूती खात कपाल ॥४६॥

'रहिमन' विपदा हू भली, जो थोरे दिन होय।
हित अनहित या जगत में, जानि परत सब कोय ॥४७॥

दुरदिन परे 'रहीम' कहि, भूलत सब पहिचानि।
सोच नहीं बित हानि कर, जो न होय हित हानि ॥४८॥

जैसी परै सो सहि रहै, कहु 'रहीम' यह देह।
धरती ही पर परत हैं, सीत घाम औ मेह ॥४९॥

जे गरीब पर हित करें, ते 'रहीम' बड़ लोग।
कहा सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग ॥५०॥

बड़े दीन के दुख सुने, लेत दया उर आनि।
हरि हाथी सों कब हुती, कहु 'रहीम' पहिचान ॥५१॥

होय न जाकर छाँह ढिग, फल 'रहीम' अति दूर।
बाढ़ेहु सो बिनु काज ही, जैसे तार खजूर ॥५२॥

'रहिमन' छोटे नरन सों, होत बड़े नहिं काम।
मढ़ो दमामा जात है, कहुँ चूहे के चाम ॥५३॥

'रहिमन' देखि बड़ेन कहँ, लघु न दीजिये डारि।
जहाँ काम आवै सुई, कहा करै तरवारि ॥५४॥

बिगरी बात बनै नहीं, लाख करै किन कोय।
'रहिमन' बिगरे दूध कहँ, मथे न माखन होय ॥५५॥

'रहिमन' निज मन की बिथा, मन ही राखहु गोइ।
सुनि अठिलैहैं लोग सब, बाँटि न लैहैं कोइ ॥५६॥

जो 'रहीम' ओछो बढ़े, तो अति ही इतराइ।
प्यादे सों फरजी भयो, टेढ़ो टेढ़ो जाइ ॥५७॥

'रहिमन' बित्त अधर्म कर, जात न लागै बार।
चोरी करि होरी रची, भई छिनक में छार ॥५८॥

'रहिमन' ओछे नरन ते, तजहु बैर औ प्रीति।
काटे चाटे स्वान के, दुहूँ भाँति बिपरीति ॥५९॥

एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाइ ।
'रहिमन' सींचै मूल कों फूलइ फलइ अघाइ ॥६०॥

ख़ैर ख़ून खांसी, ख़ुसी, बैर प्रीति मदपान ।
'रहिमन' दाबे ना दबे, जानत सकल जहान ॥६१॥

'रहिमन' तीन प्रकार ते, हित अनहित पहिचान ।
परबस परे परोस बसि, परे मामिला जानि ॥६२॥

सोरठा

'रहिमन' मोहिं न सुहाइ, अमी पियावत मान बिनु ।
जो विष देइ बुलाइ, मान सहित मरिबो भलो ॥

रसखान

[इनका जन्म, संवत् १६१५ के लगभग दिल्ली के एक पठान परिवार में हुआ था। मरण-संवत् १६८५ बताया जाता है। अपने जीवन की एक घटना के कारण यह कृष्ण के पक्के उपासक होगये थे। रसखान की कविता में भक्ति तथा प्रेम की प्रधानता है। शृंगार रस में भी इन्होंने बड़ी सुन्दर रचनाएं की हैं। 'प्रेम वाटिका' और 'सुजानरसखान' आपके ये दो ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं]

(१)

मानुस हौं तो वही रसखानि, बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो, चरौं नित नन्दकी धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तौ वही गिरि कौ, जो धर्यो कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं, मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन॥

(२)

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि को सुख नन्द की गाइ चराइ बिसारौं॥
रसखानि कबौं इन आँखिन सों, ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हौं कलधौत के धाम, करील की कुञ्जन ऊपर वारौं॥

(३)

गावैं गुनी गनिका गन्धर्व औ, सारद सेस सबै गुन गावैं।
नाम अनन्त गनन्त गनेस ज्यों, ब्रह्मा त्रिलोचन पार न पावैं॥

जोगी जती तपसी अरु सिद्ध, निरन्तर जाहि समाधि लगावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥

(४)

सेस महेस गनेस दिनेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावै।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड, अछेद अभेद सुवेद बतावे॥
नारद से सुक व्यास रटै, पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥

(५)

जा दिन ते वह नन्दको छोहरौ, या बन धेनु चराइ गयौ है।
मीठिहि तानन गोधन गावत, बैन बजाइ रिझाइ गयौ है॥
वा दिनसो कछु टौनासो कै, रसखानि हिये मे समाइ गयौ है।
कोहू न काहू की कानि करै, सिगरो व्रज बीर बिकाइ गयौ है॥

(६)

प्रान वही जु रहैं रिझि वापर, रूप वही जिहि वाहि रिझायो।
सीस वही जिन वे परसे पद, अंक वही जिन वा परसायो॥
दूध वही जु दुहायोरी वाहि, दही सु सही जो वही ढरकायो।
और कहाँलों कहौ रसखानि री, भाव वही जु वही मन भायो॥

(७)

कञ्चन मन्दिर ऊचे बनाइ कै, मानिक लाइ सदा झलकैयत।
प्रातहिते सगरी नगरी गजमोतिन ही की तुलानि तुलैयत॥
यद्यपि दीन प्रजान प्रजा तिनकी प्रभुता मघवा ललचैयत॥
ऐसे भये तो कहा रसखानि जो साँवरे ग्वाल सों नेह न लैयत॥

(८)

द्रौपदि औ गनिका गज गीध अजामिल सों कियो सो न निहारो।
गोतम-गेहिनी कैसे तरी प्रहलाद को कैसे हर्‌यौ दुख भारो॥
काहे को सोच करै रसखानि, कहा करि है रविनन्द विचारो।
ताखन जाखन राखिये माखन* चाखन हारो सो राखन हारो॥

(९)

वैद की औषधि खाइ कछू, न करै कछु संजम री सुनि मोसें।
तो जलपानि कियो रसखानि, सजीवन जानि लियो सुख तोसें॥
एरी सुधामई भागीरथी, सब पथ्य कुपथ्य बनैं तुहि पोसें।
आक धतूर चबात फिरै, विष खात फिरै सिव तेरे भरोसें॥

(१०)

बैन वही उनको गुन गाइ, औ कान वही उन बैन सों सानो।
हाथ वही उन गात सरैं, अरु पाइ वही जु वही अनुजानो॥
जान वही उन प्रान के संग औ, मान वही जु करै मन मानो।
त्यों रसखानि वही रसखानि, जु है रसखानि सो है रसखानो॥

---

* "कौन की संक परी है जु माखन, चाखन हारो है राखन हारो" यह भी पाठ है।

विहारीलाल

[विहारीलाल का जन्म १६६० वि० के लगभग, ग्वालियर राज्यान्तर्गत, बसुआ गोविन्दपुर नामक ग्राम में हुआ था। ये चतुर्वेदी ब्राह्मण थे, इनका बालकपन बुंदेलखंड में बीता और तरुण होने पर ये अपनी ससुराल मथुरा में चले गये। मथुरा से जयपुर गये और वहाँ जयपुर के महाराज जयसिंह के यहाँ रहने लगे। वहीं इन्होंने अपनी प्रसिद्ध 'सतसई' की रचना की थी। 'विहारीसतसई' शृङ्गार-रस का अनुपम ग्रन्थ समझा जाता है। इसकी अब तक तीस से अधिक टीकाएँ हो चुकी हैं। विहारीलालजी की कविता में सब से बड़ी विशेषता यह है कि वह अपनी प्रतिभा-शक्ति के प्रभाव से थोड़े शब्दों में बहुत सा भाव कह जाते हैं। सिन्धु को बिन्दु में भर देते हैं। विहारीलालजी का मरण-संवत् १७२० के लगभग बताया जाता है।]

विहारी-संग्रह

मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तनकी झाँई परे, स्याम हरित दुति होय ॥ १ ॥

सीस मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
यह बानिक मो मन बसौ, सदा विहारीलाल ॥ २ ॥

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वै हलधर के बीर ॥ ३ ॥

नेह न नैनन को कछू, उपजी बड़ी बलाय।
नीर भरे नित प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाय ॥ ४ ॥

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों ज्यों बूडे स्याम रँग, त्यों त्यों उज्ज्वल होय ॥ ५ ॥

लाल तिहारे रूप की, कहौ रीति यह कौन।
जासौं लागैं पलक दृग, लागैं पलक पलौ न॥ ६॥

क्यों बसिये क्यों निबहिये, नीति नेह पुर माहिं।
लगा लगी लोयन करैं, नाहक मन बँधि जाहिं॥ ७॥

इन दुखिया अँखियान को, सुख सिरजोई नाहिं।
देखत बनै न देखते, बिन देखे अकुलाहिं॥ ८॥

नीच हिये हुलसो रहैं, गहे गेंद को पोत।
ज्यों ज्यों माथे मारिये त्यों त्यों ऊँचो होत॥ ९॥

अति अगाध अति ऊथरे, नदी कूप सर बाय।
सो ताको सागर जहाँ, जाकी प्यास बुझाय॥१०॥

बुरो बुराई जो तजै, तो चित खरो सकात।
ज्यों निकलंक मयंक लखि, गनैं लोग उतपात॥११॥

इहि आसा अटक्यो रहै, अलि गुलाब के मूल।
ऐहै बहुरि बसन्त ऋतु, इन डारनि वै फूल॥१२॥

जिन दिन देखे वे सुमन, गई सु बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब की, अपत कँटीली डार॥१३॥

कनक कनक तें सौ गुनी मादकता अधिकाय।
वा खाये बौरात है, या पाये बौराय॥१४॥

को छूट्यो इहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात।
ज्यों ज्यों सुरझि भज्यो चहत, त्यों त्यों उरझत जात॥१५॥

कर लै सूँघि सराहि कै, रहे सबै गहि मौन।
गंधी गन्ध गुलाब को, गँवई गाहक कौन॥१६॥

चै न यहाँ नागर बड़े, जिन आदर तो आब ।
फूल्यो अनफूल्यो भयो, गँवई गाँव गुलाब ॥१७॥
करि फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराहि ।
चुप करि रे गंधी चतुर, अतर दिखावत काहि ॥१८॥
को कहि सकै बड़ेन सों, लखे बड़ी हू भूल ।
दीने दई गुलाब को, इन डारन में फूल ॥१६॥
दिन दस आदर पाय कै, करिलै आपु बखान ।
जौलौं काग सराध पख, तौलौं तो सनमान ॥२०॥
कोटि जतन कोऊ करौ, परै न प्रकृतिहि बीच ।
नल बल जल ऊँचे चढ़ै, तऊ नीच को नीच ॥२१॥
बड़े न हूजै गुनन बिन, बिरद बड़ाई पाय ।
कहत धतूरे सों कनक, गहनो गढ़ो न जाय ॥२२॥
कहैं यहै सब स्रुति सुमृति, यहै सयाने लोग ।
तीन दबावत निसकु ही, पातक राजा रोग ॥२३॥
बसै बुराई जासु तन, ताही को सनमान ।
भलो भलो करि छाड़िये, खोटे ग्रह जप दान ॥२४॥
जो चाहौ चटक न घटै, मैलो होय न मित्त ।
रज राजस न छुवाइये, नेह चीकने चित्त ॥२५॥
नर की अरु नलनीर की, गति एकै करि जोइ ।
जेतो नीचौ ह्वै चलै, तेतो ऊँचो होइ ॥२६॥
जाके एकौ एकहू, जग व्यवसाय न कोय ।
सो निदाघ फूलै फलै, आक डहडहो होय ॥२७॥

चले जाहु ह्याँ को करत, हाथिन को व्यापार।
नहिं जानत या पुर बसत, धोबी और कुम्हार ॥२८॥
ओछे बड़े न ह्वै सकैं, लगि सतरौंहे बैन।
दीरघ होहिं न नेकहू, फारि निहारे नैन ॥२९॥
संगति सुमति न पावई, परे कुमति के धंध।
राखौ मेलि कपूर में, हींग न होय सुगन्ध ॥३०॥
समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोय।
मनकी रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय ॥३१॥
जगत जनायो जेहि सकल, सो हरि जान्यो नाहिं।
ज्यों आंखिन सब देखिये, आंखि न देखी जाहिं ॥३२॥
तौ लगि या मन-सदन में, हरि आवैं किहि बाट।
विकट जरे जौ लगि निपट, खुलैं न कपट कपाट ॥३३॥
भजन कह्यो तासों भज्यो, भज्यो न एकौ बार।
दूर भजन जासों कह्यो, सो तू भज्यो गँवार ॥३४॥
दीरघ सांस न लेहि दुख, सुख साईं नहिं भूल।
दई दई क्यों करत है, दई दई सु कबूल ॥३५॥
घर घर डोलत दीन ह्वै, जन जन जाँचत जाय।
दिये लोभ-चसमा चखन, लघुहू बड़ो लखाय ॥३६॥
हरि कीजत तुमसों यहै, बिनती बार हजार।
जेहि तेहि भाँति डरो रहौं, परो रहौं दरबार ॥३७॥

वृन्द

[वृन्दकवि की 'वृन्दसतसई' बहुत प्रसिद्ध है। इनका जन्म संवत् १७४२ के लगभग हुआ बताया जाता है। वृन्द के दोहों में नीति तथा उपदेश की बातें बहुत हैं। इनकी उपमाएँ बड़ी सुन्दर और स्वाभाविक हैं। दोहों में प्रसादगुण अधिक पाया जाता है। वृन्दजी के बहुत से दोहे तो कहावतों में कहे जाते हैं। बिना पढ़े-लिखे लोगों तक को वृन्दकवि के दो चार दोहे याद निकलेंगे।]

वृन्द के दोहे

मधुर बचन तें जात मिटि, उत्तम जन अभिमान।
तनक सीत जलसों मिटे, जैसे दूध उफान ॥ १ ॥

कछु बसाय नहि सबल सों, करे निबल सों जोर।
चलै न अचल उखारि तरु, डारत पवन झकोर ॥ २ ॥

पर-घर कबहुँ न जाइये, गये घटत है जोति।
रवि-मण्डल मे जात शशि, छीन कला छबि होत ॥ ३ ॥

निकट अबुध समझे कहा, बुधजन बचन बिलास।
कबहू भेक न जानही, अमल कमल की बास ॥ ४ ॥

दोषहि सों उमहे गहे, गुण न गहे खल लोक।
पिये रुधिर पय ना पिये, लगी पयोधर जोंक ॥ ५ ॥

क्यों कीजे ऐसो जतन, जातें काज न होय।
पर्वत पै खोदे कुआँ, कैसे निकसै तोय ॥ ६ ॥

घन बाढ़े मन बढ़ गयो, नाहिन मन घट होय।
ज्यों जल सँग बाढ़े जलज, जल घट घटै न सोय ॥७॥
सब ते लघु है मांगवो, यामें फेर न फार।
बलि पै जाँचत ही भये, बामन तन करतार ॥ ८ ॥
वीर पराक्रम ना करै, तासों डरत न कोय।
बालकहू के चित्र को, बाघ खिलौना होय ॥ ९ ॥
भली करत लागे बिलँब, बिलँब न बुरे विचार।
भवन बनावत दिन लगैं, ढाहत लगै न वार ॥१०॥
सुखसज्जन के मिलन को, दुर्जन मिलै जनाय।
जाने ऊख मिठास कों, जब मुख निम्ब चबाय ॥११॥
जाहि मिले सुख होत है, तिहि बिछुरे दुःख होय।
सूर उदै फूले कमल, ता बिन सकुचे सोय ॥१२॥
कछु कह नीच न छेड़िये, भलो न वाको सङ्ग।
पाथर डारे कीच में, उछरि बिगारे अङ्ग ॥१३॥
वचन पारखी होहु तूँ, पहले आप न भाख।
अनपूछे नहिं भाखिये, यही सीख जिय राख ॥१४॥
नन श्रवण मुख नासिका, सब ही के इक ठौर।
कहबौ सुनबौ देखबौ, चतुरन को कछु और ॥१५॥
श्रमहीं सों सब मिलत है, बिन श्रम मिलै न काहि।
सीधी अँगुरी घी जम्यो, क्यों हूँ निकसे नाहिं ॥१६॥
जो जाको गुन जानही, सो तिहिं आदर देत।
कोकिल अंबहि लेत है, काग निबौरी हेत ॥१७॥

जाही ते कछु पाइये, करिये ताकी आस।
रीते सरवर पै गये, कैसे बुझत पियास॥१८॥
कैसे निवहै निबल जन, कर सबलन सों गैर।
जैसे बस सागर विसै करत मगर सों वैर॥१९॥
दीबो अवसर को भलो, जासों सुधरै काम।
खेती सूखे बरसबौ, घन को कौने काम॥२०॥
अपनी पहुँच विचारि कै, करतब करिये दौर।
तेते पांव पसारिये, जेती लम्बी सौर॥२१॥
विद्या धन उद्यम विना, कहौ जु पावै कौन।
विना डुलाये ना मिले, ज्यो पंखा की पौन॥२२॥
बुरे लगत सिख के बचन, हिये विचारो आप।
करुवी भेषज विन पिये, मिटै न तन की ताप॥२३॥
फेर न ह्वै है कपट सो, जो कीजै व्यौपार।
जैसे हाँडी काठ की, चढ़ै न दूजी वार॥२४॥
नयना देत बताय सब, हिय कौ हेत अहेत।
जैसे निर्मल आरसी, भली बुरी कहि देत॥२५॥
अति परिचै ते होत है, अरुचि अनादर भाय।
मलयागिरि की भीलनी, चंदन देति जराय॥२६॥
भले बुरे सब एक से, जौ लौं बोलत नाहिं।
जानि परत हैं काक-पिक, ऋतु बसंत के माहिं॥२७॥
हितहू की कहिये नहीं, जो नर होय अबोध।
ज्यो नकटे को आरसी, होत दिखाये क्रोध॥२८॥

सबै सहायक सबल के, कोऊ न निबल सहाय।
पवन जगावत आग को, दीपहिं देत बुझाय ॥२६॥
दुष्ट न छाँड़े दुष्टता, कैसे हू सुख देत।
धोये हू सौ बेर के, काजर होय न सेत ॥३०॥
जे चेतन ते क्यों तजें, जाको जासों मोह।
चुम्बक के पीछे लग्यो, फिरत अचेतन लोह ॥३१॥
जो पावै अति उच्च पद, ताको पतन निदान।
ज्यों तपि तपि मध्यान्ह लों, अस्त होतु है भान ॥३२॥
मूरख गुन समुझै नहीं, तौ न गुनी में चूक।
कहा भयौ दिन को बिभौ, देखै जौ न उलूक ॥३३॥
करै बुराई सुख चहै, कैसे पावै कोइ।
रोपै बिरवा आक को, आँब कहाँ ते होइ ॥३४॥
बहुत निबल मिल बल करैं, करैं जु चाहैं सोय।
तिनकन की रसरी करी, करी निबन्धन होय ॥३५॥
साँच झूठ निर्णय करै, नीति निपुण जो होय।
राजहंस बिन को करै, छीर नीर को दोय ॥३६॥
बुरी करैं तेई बुरे, नाहिं बुरौ कोऊ और।
बनिज करै सो बानियौ, चोरी करे सो चोर ॥३७॥
ऊपर दरसै सुमिल सी, अन्तर अनमिल आँक।
कपटी जन की प्रीति है, खीरा की सी फाँक ॥३८॥
छमा खड्ग लीने रहै, खलको कहा बसाय।
अगिन परी तृन रहित थल, आपहिते बुझिजाय ॥३६॥

ओछे नर के पेट में, रहै न मोटी बात।
आध सेर के पात्र में, कैसे सेर समात ॥४०॥
सरस्वति के भंडार की, बड़ी अपूरब बात।
ज्यों खरचै त्यों त्यों बढ़ै, बिन खरचे घटि जात ॥४१॥

भारतेन्दु हरिश्चंद्र

[भारतेन्दुजी का जन्म संवत् १९०७ वि० में हुआ था। ये पाँच वर्ष की आयु से ही कविता करने लगे थे, बातों ही बातों में कविता बना लेते थे। इन्होंने गद्य-पद्यात्मक १७५ ग्रन्थ लिखे हैं। भारतेन्दुजी बड़े रसिक, प्रेमी और उदार थे। इन्होंने अपनी पैतृक सम्पत्ति का लाखों रुपया, साहित्य-सेवा के नाम पर, पानी की तरह बहा दिया। भारतेन्दुजी में देश-भक्ति भी कूट-कूट कर भरी थी। वे हास्य में बड़ी चुटीली बात कह जाते थे। भारतेन्दुजी के रचे प्रायः सब ग्रंथ मिलते हैं, जिनसे उनकी प्रतिभाशक्ति का अद्भुत परिचय प्राप्त हो जाता है। १८८५ ई० को ६ जनवरी को इनका देहान्त हुआ।]

गंगा-वर्णन

१

नव उज्ज्वल जलधार हार-हीरक-सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता-मनि पोहति॥
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि-नर-गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत॥

२

सुभग स्वर्ग-सोपान-सरिस सब के मन भावत।
दरसन मज्जन पान त्रिविध भय दूरि मिटावत॥
श्रीहरि-पद-नख-चन्द्रकान्तमनि द्रवित सुधारस।
ब्रह्म कमण्डल-मण्डन भव खण्डन सुर सरबस॥

३

शिव-सिर-मालति-माल भगीरथ नृपतिपुण्य-फल ।
ऐरावत-गज-गिरि-पति-हिम-नग-कण्ठहार कल ॥
सगर-सुवन सठसहस परस जल मात्र उधारन ।
अगिनित धारा रूप धारि सागर संचारन ॥

४

कासी कहँ प्रिय जानि ललकि भेंट्यो जगधाई ।
सपनेहू नहिं तजी रही अङ्कम लपटाई ॥
कहूँ बँधे नव घाट उच्च गिरिवर सम सोहत ।
कहुँ छतरी कहुँ मढ़ी बढ़ी मन मोहत जोहत ॥

५

धवल धाम चहुँ ओर फरहरत धुजा पताका ।
घहरत घंटा धुनि धमकत धौंसा करि साका ॥
मधुरी नौबत बजत कहूँ नारी नर गावत ।
वेद पढ़त कहुँ द्विज कहुँ जोगी ध्यान लगावत ॥

६

कहुँ सुन्दरी नहात नीर करजुगल उछारत ।
जुग अम्बुज मिलि मुक्त-गुच्छ मनु सुच्छ निकारत ॥
धोवत सुन्दरि वदन करन अति ही छवि पावत ।
वारिधि नाते ससि-कलंक मनु कमल मिटावत ॥

७

सुन्दर ससि-मुख नीर मध्य इमि सुन्दर सोहत ।
कमल बेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत ॥

दीठि जहीं जहँ जात रहत तितहीं ठहराई।
गंगा-छबि हरिचन्द कछू बरनी नहिं जाई॥

(प्रभाती)

प्रगटहु रवि-कुल-रवि निसि बीती प्रजा-कमल-गन फूले
मन्द परे रिपुगन तारासम जन-भय-तम-उनमूले॥
बसे चोर लम्पट खल लखि तव तुव प्रताप प्रगटायो।
मागध बन्दी सूत चिरैयन मिलि कल रौर मचायो॥
तुव जस सीतल पौन परसि चटकीं गुलाब की कलियाँ।
अति सुख पाइ असीस देत कोई करि अँगुरिन चट अलियाँ।
भये धरम में थित सब द्विजजन प्रजा काज निज लागे।
रिपु-जुवती-मुख-कुमुद मन्द जन-चकवाक अनुरागे॥
अरग सरिस उपहार लिये नृप ठाढ़े तिनकहँ तोखौ।
न्याय कृपा सों ऊँच नीच सम समुझि परसि कर पोखौ॥

(श्मशान)

रुरुआ चहुँदिसि ररत डरत सुनि कै नरनारी।
फटफटाइ दोउ पंख उलूकहु रटत पुकारी॥
अन्धकारबस गिरत काक अरु चील करत रव।
गिद्ध गरुड़ हड़गिल्ल भजत लखि निकट भयद रव॥
रोअत सियार, गरजत नदी, स्वान भूकि डरपावहीं।
संग दादुर झींगुर रुदनधुनि मिलि स्वर तुमुल मचावहीं॥

(दुखिया अँखियाँ)

इन दुखियान कों न सुख सपने हूँ मिल्यो
यों ही सदा व्याकुल विकल अकुलायँगी।

प्यारे हरिचन्दजू की बीती जानि औध जोपै
जै हैं प्रान तऊ ये तो साथ न समायँगी ॥
देख्यौ एक बार हू न नैन भरि तोहि याते
जौन जौन लोक जैहैं तहीं पछितायँगी ।
बिना प्रान प्यारे भये दरस तिहारे हाय !
देखि लीजौ आँखें ये खुलीही रहि जायँगी ॥

(लोरी)

सोओ सुखनिदिया, प्यारे ललन ।
नैनन के तारे दुलारे मेरे बारे,
सोओ सुखनिदिया, प्यारे ललन ।
भई आधीरात बन सनसनात,
पथ पंछी कोउ आवत न जात ।
जग प्रकृति भई मनु थिर लखात,
पातहु नहिं पावत तरुन हलन ।
झलमलत दीप सिर धुनत आय,
मनु प्रिय पतंग हित करत हाय ।
सतरात अंग आलस जनाय.
सनसन लगी सीरी पवन चलन ।
सोये जग के सब नींद घोर,
जागत कामी चिंतित चकोर ।
बिरहिन बिरही पाहरू चोर,
इन कहँ छन रैनहुँ हाय कलन ॥

प्रतापनारायण मिश्र

[मिश्रजी का जन्म सं० १९१२ वि० में, उन्नाव ज़िले में हुआ था। आप संस्कृत, हिन्दी, उर्दू तथा फ़ारसी के अच्छे ज्ञाता थे। वे बड़े मौजी तबियत के थे। उनके गद्य-पद्यात्मक लेख हास्य-रसमय, व्यंग्यपूर्ण और शिक्षाप्रद होते थे। देश-भक्ति का पुट भी उनमें खूब रहता था। इन्होंने बारह पुस्तकों का भाषानुवाद किया और बीस पुस्तकें लिखीं। मिश्रजी ने कई बार नाटकों का अभिनय स्वयं किया था। 'ब्राह्मण' तथा 'हिन्दुस्तान' पत्रों का सम्पादन भी आपने बड़ी योग्यता पूर्वक किया था। इनका देहान्त सं० १९५१ वि० में हुआ।]

प्रार्थना

शरणागत पाल कृपाल प्रभो! हमको इक आस तुम्हारी है।
तुम्हरे सम दूसर और कोऊ नहिं दीनन को हितकारी है॥
सुधि लेत सदा सब जीवन की अति ही करुना उरधारी है।
प्रतिपाल करैं बिन ही बदले अस कौन पिता महतारी है॥
जब नाथ! दया करि देखत हौ छुटि जात बिथा संसारी है।
बिसराय तुम्हैं सुख चाहत जो अस कौन नदान अनारी है॥
परवाहि तिन्हैं नहिं स्वर्गहु की जिनको तव कीरति प्यारी है।
धनि है धनि है सुखदायक जो तव प्रेम-सुधा अधिकारी है॥
सब भाँति समर्थ सहायक हौ तव आश्रित बुद्धि हमारी है।
"परतापनरायण" तौ तुम्हरे पदपंकज पै बलिहारी है॥

पितु मात सहायक स्वामि सखा तुमही इक नाथ हमारे हौ।
जिनके कछु और अधार नहीं तिनके तुमही रखवारे हौ॥
सब भांति सदा सुखदायक हौ दुख दुर्गुन नासनहारे हौ।
प्रतिपाल करो सिगरे जग को अतिसै करुना उरधारे हौ॥
उपकारन को कछु अन्त नहीं छिन ही छिन जो विस्तारे हौ।
भुलिहैं हमहीं तुमको तुम तौ हमरी सुधि नाहिं बिसारे हौ॥
महाराज! महा महिमा तुम्हरी समुझै बिरले बुधिवारे हौ।
शुभ शान्तिनिकेतन प्रेमनिधे! मन मन्दिर के उजियारे हौ॥
यहि जीवन के तुम जीवन हौ इन प्रानन के तुम प्यारे हौ।
तुम सों प्रभु पाय "प्रतापहरी" किहि के अब और सहारे हौ॥

भजन

साधो मनुवाँ अजब दिवाना।

माया मोह जनम के ठगिया तिनके रूप भुलाना॥
छल परपंच करत जग धूनत दुख को सुख करि माना।
फिकिरि तहाँ की तनिक नहीं है अन्तसमय जहँ जाना॥
मुख ते धरम धरम गोहरावत करम करत मन माना।
जो साहब घट घट की जानै तेहितें करत बहाना॥
तेहितें पूछत मारग घर को आपहि कौन भुलाना।
'हियाँ कहाँ सजन कर बासा' हाय न इतनौ जाना॥
यहि मनुवाँ के पीछे चलि के सुख का कहाँ ठिकाना।
जो "परताप" सुखद को चीन्हे सोई परम सयाना॥

जागो भाई जागो रात अब थोरी।
काला चोर नहिं करत चहत है जीवन धन की चोरी॥
औसर चूके फिर पछितैहौ हाथ मींजि सिर फोरी।
काम करो नहिं काम न ऐहैं बातें कोरी कोरी॥
जो कछु बीती बीत चुकी सो चिन्ता ते मुख मोरी।
आगे जामें बनै सो कीजै करि तन मन इक ठोरी॥
कोऊ काहू को नहिं साथी मात पिता सुत गोरी।
अपने करम आपने संगी और भावना भोरी॥
सत्य सहायक स्वामि सुखद से लेहु प्रीति जिय जोरी।
नाहिं तु फिर "परतापहरी" कोऊ बात न पूछहि तोरी॥

नाथूरामशंकर शर्मा

[शंकरजी का जन्म सं० १९१६ वि० की चै० शु० ५ को हरदुआ-गंज (अलीगढ़) में हुआ । आप तेरह साल की उम्र से ही कविता करते हैं। शकरजी अपनी कविता में काव्यसम्बन्धी एक बड़े कड़े नियम का निर्वाह कर रहे हैं। वह यह कि वर्ण-वृत्त की तरह मात्रिक और मुक्तक छन्दों में भी वर्णों की समानसंख्या रखते हैं, जो बिल्कुल अपूर्व बात है। समस्या पूर्ति करने में आप बड़े प्रवीण हैं। काव्य के रसों पर आपका पूरा अधिकार है । शकरजी की रचनाओं में 'शकरसरोज', 'अनुरागरत्न', 'वायसविजय' आदि मुख्य पुस्तक हैं। भावगाम्भीर्य, अनुप्रास और शब्द-लालित्य आपकी कविता के विशेष गुण हैं ।]

प्रशस्त पाठ

शुभ सत्य सनातनधर्म वही
जिसमें मत पन्थ अनेक नहीं।
बल-वर्द्धक वेद वही जिसमें
उपदेश अनर्थक एक नहीं ॥
सुख-मूल समाधि वही जिसमें
व्रत-बन्धन की कुछ टेक नहीं ॥
कवि शंकर बुद्धि विशुद्ध वही
जिसके मन में अविवेक नहीं ॥ १ ॥

गुरु गौरव-हीन कुचाल चलें
मत-भेद प्रसार प्रपंच रचें।

दिन रात मनोमुख मूढ़ लड़ें
चहुँ ओर घने घमसान मचें ॥
व्रत साधन के मिस पाप करें
हठ छोड़ न हाय ! लबार लचें ।
कवि शंकर मोह महासुर से
विरले जन पाय विवेक बचें ॥ २ ॥

तन सुन्दर रोग विहीन रहे
मन त्याग उमंग उदास न हो ।
रसना पर धर्म-प्रसंग बसें
नर-मण्डल में उपहास न हो ॥
धन की महिमा भरपूर मिले
रस-रङ्ग वियुक्त विलास न हो ।
कवि शंकर ये सब संकट हैं
सुखदा प्रतिभा यदि पास न हो ॥ ३ ॥

निशि-वासर भोग-विलास किये
रस-रंग भरे सब साज बने ।
सिर धार किरीट कृपाण गही
अवनी भर के अधिराज बने ॥
अनुकूल अखण्ड प्रताप रहा
अविरुद्ध अनेक समाज बने ।
कवि शंकर वैभव ज्ञान विना
भवसागर के न जहाज बने ॥ ४ ॥

कब कौन अगाध पयोनिधि के
उस पार गया जलयान विना।
मिल प्राण अपान उदान रहें
न समान विमिश्रित व्यान विना॥
कहिये ध्रुव ध्येय मिला किस को
अविकल्प अचञ्चल ध्यान विना।
कवि शंकर मुक्ति मिली न कहीं
सुख मूल विवेकज ज्ञान विना॥५॥

धर्म-जिज्ञासा

हे जगदीश देव! मन मेरा,
सत्य सनातनधर्म न छोड़े।

सुख में तुझको भूल न जावे, नेक न संकट में घबरावे।
धीर कहाय अधीर न होवे, तमक न तार क्षमा का तोड़े॥१॥
त्याग जीव के जीवन-पथ को, टेढ़ा हाँक न दे तन-रथ को।
अति चंचल इंद्रिय घोड़ों की, भ्रम से उलटी बाग न मोड़े॥२॥
हो कर शुद्ध महाव्रत धारे, मलिन किसी का माल न मारे।
धार घमण्ड क्रोध-पाहन से, हा! न प्रेम-रस का घट फोड़े॥३॥
ऊँचे विमल विचार चढ़ावे, तप से प्रातिभ-ज्ञान बढ़ावे।
हठ तज मान करे विद्या का, शंकर श्रुति का सार निचोड़े॥४॥

ब्रह्मचर्य-महिमा

(महावीर हनुमान)

सुग्रीव का सुमित्र बड़े काम का रहा।
प्यारा अनन्य भक्त सदा राम का रहा॥
लंका जलाय काल खलों को सुभा दिया।
मारे प्रचंड दुष्ट दिया भी बुझा दिया॥
हनुमान बली वीर-वरों में प्रधान है।
महिमा अखंड ब्रह्मचर्य की महान है॥

(राजर्षि भीष्म पितामह)

भूला न किसी भांति कहीं टेक टिकाना।
माना मनोज का न कहीं ठीक ठिकाना॥
जीते असंख्य शत्रु रहा दर्प दिखाता।
शय्या शरों की पाय मरा धर्म सिखाता॥
अब एक भी न भीष्म बली सा सुजान है।
महिमा अखंड ब्रह्मचर्य की महान है॥

श्रीधर पाठक

[पाठकजी का जन्म १९१६ वि० में आगरा जिले के जोंधरी गांव में हुआ था। यह प्राकृतिक सौन्दर्य के बड़े प्रेमी थे। यह बात इनकी कविताओं से भी अच्छी तरह झलकती है। पाठकजी खड़ी बोली और ब्रज-भाषा दोनों में बड़ी अच्छी कविता करते थे। इनके लिखे तेरह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी लिखी 'एकान्त वासी योगी' 'श्रान्त पथिक', 'ऊजड़ ग्राम', आदि किताबें बहुत प्रसिद्ध हैं। पाठकजी की कविता-शैली निराली थी। कभी कभी वे अपने मित्रों को कविता में ही पत्र लिखा करते थे। खड़ी बोली की कविता करने में उन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हुई। खेद है कि तीन साल हुए, आपका देहान्त हो गया।]

हिमालय

उत्तर दिसि नगराज अटल छवि सहित विराजत,
लसत स्वेत सिर मुकुट, झलक हिम सोभा भ्राजत।
वदन देस सुविसेष, कनक आभा आभासत,
अधोभाग की स्याम बरन छबि हृदय हुलासत॥

स्वेत पीत सँग स्याम धार अनुगत सम अन्तर,
सोहत त्रिगुन, त्रिदेव, त्रिजग, प्रतिभास निरन्तर।
बिलसत सो तिहुँ काल त्रिविध सुठि रेख अनूपम,
भारतवर्ष विशाल भाल भूषित त्रिपुण्ड् सम॥

उज्ज्वल ऊँचे शिखर दूर देखत सों चमकत,
परत भानु नव किरन प्रात सुवरनसम दमकत।
लता पुहुप बनराजि, मनो ऋतुराज सुहावत,
हरी भरी टहटही सुगन्ध-माला मन भावत॥
कोकिल और पपैया, अन्य पक्षि गान सुनावत,
श्यामा चारु सुगीत मधुर सुर पुनि पुनि गावत।
कहुँ हारिल कपोत कहुँ मैना लखि परियत,
कहुँ कहुँ तीतर-चकोर के दरसन करियत॥

हरिद्वार केदार बदरिकाश्रम की सोभा,
लखि ऐसो को मनुज जासु मन कबहुँ न लोभा ?
पुनि देखिय कसमीर देस नैपाल तराई,
सिक्कम और भूटान राज्य आसाम लगाई।
दच्छिन भुज अफगान राज मस्तक सों भेंटत,
बाम बाहु सो बरमा के कच-भार समेटत ॥
ज्यों समर्थ बलवान सुभावहि सों उदार मन,
देत अभय बरदान मानयुत निज आश्रित गन।
आर्यावर्त्त पुनीत ललकि हिय भरि आलिंगत,
गंगा जमुना अश्रु प्रेम प्रगटत हृदयंगत ॥
रूरे रूरे गाम अधिक अन्तर सों सोहत,
रूपवंती, पर्वती, सती, जुवती मन मोहत।
अगनित पर्वत खण्ड चहूँ दिस देत दिखाई,
सिर परसत आकास, चरन पाताल छुआई ॥
सोहत सुन्दर खेत पांति तर ऊपर छाई,
मानहुँ बिधि पट हरित स्वर्ग सोपान बिछाई।
गहरे गहरे गर्त खड्ड दीरघ गहराई,
शब्द करतही घोर प्रतिध्वनि देय सुनाई ॥
तहाँ निपट निश्शंक, वन्य पशु सुख सों विचरत,
करत केलि-कल्लोल, मुदित आनन्दित बिहरत।
कहुँ इंधन कौ ढेर सिद्ध-आवास जनावत,
कहूँ समाधिस्थित जोगी की गुहा सुहावत ॥

विविध विलच्छन दृश्य, सृष्टि सुखमा सुख मंडल,
नन्दनवन अनुरूप भूमि अभिनय रंगस्थल।
प्रकृति परम चातुर्य, अनूपम अचरज आलय,
'श्रीधर' दृग छकि रहत अटल छवि निरखि हिमालय॥

प्रेम

प्रेम मय है, सारा संसार।
प्रेमहि का सारा प्रसार है मत कह इसे असार॥
प्रेम वार है, प्रेम पार है, प्रेमहि है मँझधार।
बेड़ा पड़ा प्रेम-सागर में प्रेम से होगा पार॥
प्रेमहि है स्वारथ परमारथ, सकल पदारथ सार।
प्रेम विलग जो तेरे मन में वो है प्रेम विकार॥
होजा निडर, छोड़दे गड़बड़ पकड़ प्रेम की धार।
प्रेम के बल से केवल होगा निर्बल तेरा निस्तार॥

महावीरप्रसाद द्विवेदी

[द्विवेदीजी का जन्म सं० १९२१ वि० में रायबरेली के दौलतपुर गाँव में हुआ। कविता की ओर आपकी लड़कपन ही से रुचि है। आप संस्कृत और हिन्दी दोनों में कविता करते हैं। आपकी गद्य लिखने की शैली निराली है। जब से द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' का सम्पादन किया, हिन्दी में नया जीवन आगया है। आप अंगरेजी, संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी, बँगला, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के भी अच्छे विद्वान् हैं। आपके मौलिक तथा अनुवादित ग्रन्थों की संख्या दो दर्जन से अधिक है। द्विवेदीजी समालोचना करने में बड़े निष्पक्ष और दक्ष हैं। आप हिन्दी के आचार्य कहे जाते हैं, जो सर्वथा समुचित है। आपकी कविता बड़ी सुन्दर और सरस होती है।

आर्य-भूमि

जहाँ हुए व्यास मुनि-प्रधान;
रामादि राजा अति कीर्तिमान;
जो थी जगत्पूजित धन्य-भूमि;
वही हमारी यह आर्य-भूमि ॥१॥

जहाँ हुए साधु महा महान;
थे लोग सारे धन, धर्मवान;
जो थी जगत्पूजित धर्म-भूमि;
वही हमारी यह आर्य-भूमि ॥२॥

जहां सभी थे निज-धर्मधारी;
स्वदेश का भी अभिमान भारी;
जो थी जगत्पूजित पूज्य-भूमि;
वही हमारी यह आर्य-भूमि ॥३॥
हुए प्रजापाल नरेश नाना;
प्रजा जिन्होंने सुत-तुल्य जाना;
जो थी जगत्पूजित सौख्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्य भूमि ॥४॥
वीराङ्गना भारत-भामिनी थीं;
वीर-प्रसू भी कुल-कामिनी थीं;
जो थी जगत्पूजित वीर-भूमि,
वही हमारी यह आर्य-भूमि ॥५॥
स्वदेश-सेवी जन लक्ष लक्ष;
हुए जहाँ हैं निज-कार्य-दक्ष,
जो थी जगत्पूजित कार्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्य-भूमि ॥६॥
स्वदेश-कल्याण सु-पुण्य जान,
जहाँ हुए यत्न सदा महान;
जो थी जगत्पूजित पुण्य-भूमि;
वही हमारी यह आर्य-भूमि ॥७॥
न स्वार्थ का लेश ज़रा कहीं था;
देशार्थ का त्याग कहीं नहीं था;

जो थी जगत्पूजित श्रेष्ठ-भूमि;
वही हमारी यह आर्य-भूमि ॥८॥
कोई कभी धीर न छोड़ता था,
न मृत्यु से भी मुँह मोड़ता था;
जो थी जगत्पूजित धैर्य-भूमि;
वही हमारी यह आर्य भूमि ॥९।
स्वदेश के शत्रु स्वशत्रु माने;
जहाँ सभी ने शर-चाप ताने;
जो थी जगत्पूजित शौर्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्य-भूमि ॥१०
अनेक थे वर्ण तथापि सारे,
थे एकता-बद्ध जहाँ हमारे,
जो थी जगत्पूजित ऐक्य-भूमि;
वही हमारी यह आर्य भूमि ॥११॥
थी मातृ-भूमि-व्रत-भक्ति भारी,
जहाँ हुए शूर यशोऽधिकारी;
जो थी जगत्पूजित कीर्ति-भूमि,
वही हमारी यह आर्य-भूमि ॥१२॥
दिव्यास्त्र-विद्या-बल दिव्य यान;
छाया जहाँ था अति दिव्य ज्ञान,
जो थी जगत्पूजित दिव्यभूमि;
वही हमारी यह आर्य-भूमि ॥१३॥

नये नये देश जहाँ अनेक;
जीते गये थे नित एक एक;
जो थी जगत्पूजित भाग्य-भूमि;
वही हमारी यह आर्य-भूमि ॥१४॥
विचार ऐसे जब चित्त आते;
विषाद पैदा करते सताते;
न क्या कभी देव दया करेंगे?
न क्या हमारे दिन भी फिरेंगे ॥१५॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय

[उपाध्यायजी का जन्म संवत् १९२२ वि० में, आज़मगढ़ ज़िले में हुआ। आप उर्दू, हिन्दी, फ़ारसी और संस्कृत के अच्छे विद्वान् हैं। छोटी आयु से ही इन्हें हिन्दी-साहित्य से बड़ा अनुराग है। इन्होंने गद्य-पद्यात्मक कितनी ही पुस्तकें लिखी हैं। इनका लिखा 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' 'सिविल सर्विस परीक्षा' के कोर्स में पढ़ाया जाता है। उपाध्यायजी का 'प्रिय-प्रवास' नामक अतुकान्त महाकाव्य बड़ा अद्भुत ग्रन्थ है। आप में एक बड़ी विशेषता यह है कि हिन्दी गद्य और पद्य में कठिन से कठिन और सरल से सरल रचना कर सकते हैं। इनके 'चुभते चौपदे' और 'चोखे-चौपदे' अच्छी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं।]

कृष्ण-वियोग

१

प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है।
दुख-जलनिधि-डूबी का सहारा कहाँ है॥
लख मुख जिसका मैं आज लौ जी सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नैन तारा कहाँ है॥

२

पल पल जिसके मैं पंथ को देखती थी।
निशि-दिन जिसके ही ध्यान में थी बिताती॥
उर पर जिसके है सोहती मुक्तमाला।
वह नव नलिनी से नैन वाला कहाँ है॥

३

मुझ विजित-जरा का एक आधार जो है।
वह परम अनूठा रत्न सर्वस्व मेरा ॥
धन मुझ निधनी का लोचनों का उजाला।
सजल जलद की सी कान्ति वाला कहाँ है ॥

४

प्रति दिन जिसको मैं अंक में नाथ ले के।
निज सकल कुअंकों की क्रिया कीलती थी ॥
अति प्रिय जिसको है वस्त्र पीला निराला।
वह किशलय के से अंग वाला कहाँ है ॥

५

वर बदन विलोके फुल्ल अंभोज ऐसा।
करतल गत होता व्योम का चन्द्रमा था ॥
मृदुरव जिसका है रक्त सूखी नसों का।
वह मधुमयकारी मानसों का कहाँ है ॥

६

रसमय वचनों से नाथ जो सर्वदा ही।
मम सदन बहाता स्वर्ग-मन्दाकिनी था।
श्रुत-पुट टपकाता बूँद जो था सुधा का ॥
वह नव-खनि न्यारी मंजुता की कहाँ है ॥

७

स्वकुल जलज का है जो समुत्फुल्लकारी
मम परम-निराशायामिनी का विनाशी।

व्रज जन विहँगों के वृन्द का मोद-दाता।
वह दिनकर शोभी राम भ्राता कहाँ है॥

८

मुख पर है जिसके सौम्यता खेलती सी।
अनुपम जिसका हूँ शील-सौजन्य पाती॥
पर दुख लख के है जो समुद्विग्न होता।
वह सरलपने का स्वच्छ सोता कहाँ है॥

९

गृहतिमिर निराशा का समाकीर्ण जो था।
निज-मुख-द्युति से है जो उसे ध्वंसकारी॥
सुखकर जिससे है कामिनी जन्म मेरा।
वह रुचिकर चित्रों का चितेरा कहाँ है॥

१०

सहकर कितने ही कष्ट औ संकटों को।
बहु यजन करा के पूज के निर्जरों को॥
यक सुअन मिला है जो मुझे यत्न द्वारा।
प्रियतम! वह मेरा कृष्ण प्यारा कहाँ है॥

११

मुखरित करता जो सद्म को था शुकों-सा।
कल रव करता था जो खगों सा वनों में॥
सुध्वनित पिक लौं जो वाटिका था बनाता।
वह बहु विधि कण्ठों का विधाता कहाँ है॥

१२

खग मृग जिसके थे गान से मत्त होते।
तरुगण हरियाली भी महादिव्य होती॥
पुलकित करती थी जो लता बेलि सारी।
उस कल मुरली का नादकारी कहाँ है॥

१३

जिस प्रिय बिन सूना ग्राम सारा हुआ है।
प्रति सदन बड़ी ही छागई है उदासी॥
जिस बिन ब्रज-भू में है न होता उजाला।
वह निपट निराला कान्ति वाला कहाँ है॥

१४

वन-वन फिरती हैं खिन्न गायें अनेकों।
शुक भर-भर आँखें भौन को देखता है
सुधि कर जिस की है सारिका नित्य रोती
वह निधि मृदुता का मंजु मोती कहाँ है।

१५

गृह गृह अकुलातीं गोप की पत्नियाँ हैं।
पथ-पथ फिरते हैं ग्वाल भी उन्मना हो॥
जिस कुँवर बिना मैं हो रही हूँ अधीरा।
वह खनि सुखमा का स्वच्छ हीरा कहाँ है॥

सच्चे काम करने वाले

दुखों की गरज क्यों न धरती हिलावे ।
लगातार कितने कलेजे कँपावे ॥
विपद पर विपद क्यों न आँखें दिखावे ।
बिगड़ काल ही सामने क्यों न आवे ॥

कभी सूरमा हैं न जीवट गँवाते
बलायें उड़ाते हैं चुटकी बजाते

रुकावट उन्हें है नहीं रोक पातीं ।
उन्हें उलझनें हैं नहीं धर दबातीं ॥
न पेचीदगी ही उन्हें है गढ़ातीं ।
न कठिनाइयाँ हैं उन्हें कुछ जनातीं ॥

विचलते नहीं हैं कभी आन वाले
उन्हों ने मसल कब न डाले कसाले

पड़े भीड़ जौहर उन्होंने दिखाये ।
खुले वे कसौटी कुदिन पर कसाये ॥
निखरते मिले वे विपद आँच पाये ।
बने ठीक कुन्दन गये जब तपाये ॥

सभी आँख में जो सके फूल से
मिले वे न काँटे दुखों में खिले

न समझा कठिन पाँव वन में जमाना ।
कभी कुछ बड़े पर्वतों को न माना ॥

हँसी-खेल जाना समुन्दर थहाना
पड़े काम आकाश पाताल छाना ॥
कठिन से कठिन काम भी जो सकें कर
उन्हों ने मुहिम कौन सी की नहीं सर।

उन्हें काठ सूखे हुए का फलाना।
उन्हें दूब का पत्थरों पर जमाना ॥
उन्हें गंगधारा उलट कर बहाना।
उन्हें ऊसरों बीच बीये उगाना ॥
बहुत ही सहल काम सा है जनाता।
भला साहसी क्या नहीं कर दिखाता ॥

अड़ंगे लगाना न कुछ काम आया।
वही गिर गया पांव जिसने अड़ाया ॥
दिया डाल बल झंझटों को बढ़ाया।
न तब भी उन्हें वैरियों ने डिगाया ॥
जिन्हें काम कर डालने की लगी धुन।
सदा ही सके फूल काँटों में वे चुन ॥

जिन्होंने न औसान अपना गँवाया।
जिन्होंने कभी जी न छोटा बनाया ॥
हिचकना जिन्हें भूल कर भी न भाया।
जिन्होंने छिड़ा काम कर ही दिखाया ॥
न माना उन्होंने बखेड़ों का टोना।
न जाना कि कहते किसे हैं न होना ॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय

चले चाल गहरी नहीं वे बिचलते।
नहीं वे कुतर-ब्योंत से हैं दहलते॥
किये लाख चतुराइयाँ हैं न टलते।
फँसे फन्द में हाथ वे हैं न मलते॥
उन्हें तंगियाँ हैं नहीं तान पातीं।
न लाचार लाचारियाँ हैं बनातीं॥

पिछड़ना उन्हें है न पीछे हटाता।
फिसलना उन्हें है न नीचे गिराता॥
बिचलना उन्हें है सँभलना सिखाता।
गया दाँव है और हिम्मत बँधाता॥
उलझ गुत्थियाँ हैं उमंगें बढ़ातीं।
धड़ेबन्दियाँ हैं धड़क खोल जातीं॥

बढ़ा जी रखा काम का ढंग जाना।
बखेड़ों, दुखों उलझनों को न माना॥
जिन्होंने हवा देख कर पाल ताना।
जिन्हें आ गया बात बिगड़ी बनाना॥
उन्होंने बड़े काम कर हो दिखाये।
भला कब तरैया न वे तोड़ लाये॥

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

[रत्नाकरजी का जन्म १९२३ वि० में, काशी में हुआ। यह अग्र-वाल वैश्य हैं। १८९१ ई० में इन्होंने फ़ारसी लेकर बी० ए० पास किया। पहले इन्होंने उर्दू में शायरी शुरू की, फिर धीरे-धीरे हिन्दी के भक्त बन गये। अब ये हिन्दी-साहित्य के उत्कृष्ट ज्ञाता और व्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि समझे जाते हैं। रत्नाकरजी की सरस रचनाओं में पुराने कवियों की कविता का सा आनन्द आता है। इनके लिखे 'साहित्यरत्नाकर', 'समालोचनादर्श', 'गंगावतरणकाव्य' आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इन्होंने कितने ही ग्रन्थों का सुयोग्यता पूर्वक सम्पादन भी किया है। हाल ही में आपने 'बिहारी-सतसई' पर 'बिहारी-रत्नाकर' नामक एक सुन्दर टीका लिखी है।]

गंगा-गौरव

आय जमराज सों पुकारे जमदूत सबै,
साहिबी बिहारी अब लाजत रहन है।
पापिन की मण्डली उमङ्गि मोदमंडित,
अखंडल के मण्डल लौं राजत रहति है॥
तापी, परतापी औ सुरापी हूँ न आवैं हाथ,
तिनहूँ पै छेम-छत्र छाजत रहति है।
दंगा करैं हमसों हमेस हठि भृङ्गीगन,
गंगा भुसं सीस चढ़ी गाजत रहति है॥

गजेन्द्र-मोक्ष

सुंड गहि आतुर उबारि धरनी पै धारि,
विवस बिसारि काज सुर के समाज कौ।
कहै "रतनाकर" निहारि करुना की कोर,
बचन उचारि, जो हरैया दुखसाज कौ॥
अंबु पूरि दगनि विलंब आपनोई लेखि,
देखि देखि दीन्ह छत दन्तनि दराज कौ।
पीतपट लै लै कै अगोछत सरीर, कर-
कंजनि सौं पोंछत भुसुंड गजराज कौ॥

श्मशान का दृश्य

कहुँ सुलगति कोउ चिता कहूँ कोउ जाति बुझाई।
एक लगाई जाति एक की राख बहाई॥
विविध रंग की उठति ज्वाल दुरगंधनि महकति।
कहुँ चरबी सो चटचटाति कहुँ दहदह दहकति॥
कहुँ फूकन हित धरयो मृतक तुरतहि तहँ आयो।
परयो अंग अधजरयो कहूँ कोऊ करखायो॥
कहूँ स्वान इक अस्थि-खंड लै चाटि चचोरत।
कहुँ कारो महिकाक ठोर सों ठोकि टटोरत॥
कहुँ शृगाल कोउ मृतक अंग पर ताक लगावत।
कहुँ कोउ शव पर बैठि गिद्ध चट चोंच चलावत॥
जहँ तहँ मज्जा मांस रुधिर लखि परत बगारे।
जित तित छिटके हाड़ स्वेत कहुँ कहुँ रतनारे॥

हरहरात इक दिसि पीपल को पेड़ पुरातन।
खटकत जामें घंट घने माटी के बासन ॥
वर्षाऋतु के काज और हू लगत भयानक।
सरिता बहत सवेग करारे गिरत अचानक ॥
ररत कहूँ मण्डूक कहूँ झिल्ली झनकारें।
काक-मण्डली कहूँ अमंगल मन्त्र उचारें ॥
भई आनि तब साँझ घटा आई घिरि कारी।
सनै सनै सब ओर लगी बाढ़न अँधियारी ॥
भये इकट्ठे आनि तहाँ डाकिनि पिसाचगन।
कूदत करत कलोल किलकि दौड़त तोड़त तन ॥
आकृति अति बिकराल धरे कुइला से कारे।
बक्र बदन लघु लाल नयन जुत जीभ निकारे ॥
कोऊ कड़ाकड़ हाड़ चाबि नाचत दै ताली।
कोऊ पीवत रुधिर खोपरी की करि प्याली ॥
कोउ अँतड़ी की पहिरि माल इतराइ दिखावत।
कोउ चरबी लै चोप सहित निज अंगनि लावत ॥
कोउ मुण्डनि लै मानि मोद कन्दुक लौं डारत।
कोउ रुण्डनि पै बैठि करेजो फारि निकारत ॥

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

[पूर्णजी का जन्म सं० १९२५ वि० में जबलपुर के एक प्रतिष्ठित कायस्थकुल में हुआ था। बी० ए०, बी० एल०' पास करके आपने कानपुर में बड़ी सफलता पूर्वक वकालत की थी। धर्म सम्बन्धी और सार्वजनिक कार्यों में आप सदैव योग देते रहते थे। आपकी कविता बहुतही सरल और स्वाभाविक होती थी। आप बहुत शीघ्र कविता करते थे। रायसाहब की लिखी कितनी ही पुस्तकें हैं, जिनमें 'चन्द्रकला-भानु-कुमार नाटक' और 'धाराधर-धावन' मुख्य हैं। खेद है, ३० जून सन् १९१५ ई० को इस प्रसिद्ध कवि महोदय का देहान्त होगया।]

भारत-वाक्य

१

लक्ष्मी दीजै लोक में मान दीजै।
विद्या दीजै सभ्य सन्तान दीजै॥
हे हे स्वामी! प्रार्थना कान कीजै।
कीजै कीजै देशकल्याण कीजै॥

२

सुमति सुखद दीजै फूट को लोग त्यागैं।
कुमति हरन कीजै द्वेष के भाव भागैं॥
तजि कुसमय निद्रा चित्त सों चित्त जागैं।
विषम कुपथ त्यागैं नीति के पंथ लागैं॥

३

तन्द्रा त्यागैं लहि कुशलता होहिं व्यापार-नेमी
सीखैं नीकी नव-नव कला होहिं उद्योग-प्रेमी
पूरे करें नियम विधि सों स्वस्थता के निबाहैं
उत्कण्ठा सों दिवस-निसि हूँ देशकी वृद्धि चाहैं।

४

पावैं पूरी प्रतिष्ठा कविवर जग के शुद्ध साहित्य-श
होवैं आसीन ऊंचे सुजन विदित जे देश-सेवाभिम
पीड़ा दुर्भिक्ष वारी जुग जुग कबहूँ प्रान्त कोऊ न
दीर्घायू लोग होवैं तिन ढिग कबहूँ रोग कोऊ न आवे॥

५

सत्संग ! सन्त-सुर-पूजन धेनु-प्रेम।
श्रीराम-कृष्ण-चरितामृत-पान-नेम॥
सौजन्य-भाव गुरु-सेवन आदि प्यारे।
सम्पूर्ण शील शुभ पावहिं देशवारे॥

६

अन्याय को अंक कहूँ रहै ना।
दुर्नीति की शंक कहूँ रहै ना॥
होवै सदा मोद विनोदकारी।
राजाप्रजा में अनुराग भारी॥

७

समस्त वर्णाश्रम धर्म मानैं।
सदा हि कर्त्तव्य प्रधान जानैं॥

जसी तपस्वी बुध वीर होवैं ।
बली प्रतापी रणधीर होवैं ॥

८

लक्ष्मी दीजै लोक में मान दीजै ।
विद्या दीजै सभ्य सन्तान दीजै ॥
हे हे स्वामी ! प्रार्थना कान कीजै ।
कीजै कीजै देश-कल्याण कीजै ॥

वर्षा-आगमन

१

सुखद सीतल सुचि सुगन्धित पवन लागी बहन ।
सलिल बरसन लगो बसुधा लगी सुखमा लहन ॥
लहलही लहरान लागीं सुमन बेली मृदुल ।
हरित कुसुमित लगे भूमन बृच्छ मंजुल बिपुल ॥

२

हरित मनि के रंग लागी भूमि मन को हरन ।
लसत इन्द्रबधून अवली छटा मानिक-बरन ॥
विमल बगुलन पांति मनहुँ बिसाल मुक्तावली ।
चन्द्रहास समान चमकति चञ्चला त्यों भली ॥

३

नील नीरद सुभग सुर-धनु-बलित सोभाधाम ।
लसत मनु बनमाल धारे ललित श्रीघनश्याम ॥
कूप कुण्ड गभीर सरवर नीर लाग्यो भरन ।
नदी नद उफनान लागे लगे झरना झरन ॥

६

रटन दादुर त्रिविध लागे कुचन चातक वचन।
कूक छावत मुदित कॉनन लगे केकी नचन॥
मेघ गरजत मनहुँ पावस-भूप को दल सबल।
विजय दुन्दुभि हनत जग में छीनि ग्रीसम अमल

उद्‌बोधन

माता के समान पर पतनी बिचारी नहीं,
रहे सदा परधन लेन ही के ध्यानन में।
गुरुजन-पूजा नहीं कीनी सुचि भावन सों,
गीधे रहे नाना विधि विषय विधानन में॥
आयुस गंवाई सब स्वारथ सवारन में,
खोज्यो परमारथ न वेदन-पुरानन में।
जिन सों बनी न कछु करत मकानन में
तिन सों बनेगी करतून कौन कानन में॥

रामचरित उपाध्याय

[उपाध्यायजी का जन्म १९२९ वि० में, ग़ाजीपुर के एक सरयूपारीण ब्राह्मण-वंश में हुआ। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् हैं। इनकी खड़ीबोली की कविताएँ बहुत अच्छी होती हैं। 'राम चरित-चिन्तामणि', 'उपदेश-रत्नमाला', 'सत्यहरिश्चन्द्र', 'विचित्रविवाह' आदि इन की पुस्तकें प्रसिद्ध हैं।]

अंगद का रावण को समझाना

१

मम निवेदन है कुछ आपसे,
सुन उसे उर में धर लीजिये।
ग्रहण है करता जिस युक्ति से,
मधुप सारस-सार सहर्ष हो॥

२

जनकजा, रघुनायक हाथ में,
तुरत जाकर अर्पण कीजिये।
पर वधूजन से रहते सदा,
अलग सन्तत सन्त तमीचर!

३

कुशल से रहना यदि है तुम्हें,
दनुज तो फिर गर्व न कीजिये।

शरण में गिरिये रघुनाथ के,
निबल के बल केवल राम हैं॥

४

दुखद है तुमको जनकात्मजा,
तुरत दूर उसे कर दीजिये।
सुखद हो सकती न उलूक को,
नय-विशारद! शारद चन्द्रिका॥

५

बहुत बार हुए विजयी सही,
पर नहीं रहते दिन एक से।
सम्हल के रहिये अब आपकी,
ग्रह-दशा न दशानन! है भली॥

६

स्वकुल की करिये शुभ कामना,
सुपदि युक्ति वही नृप! सोचिये।
न अब भी जिसमें करना पड़े,
कठिन संगर संग रमेश के॥

७

स्व-मन को वश में रखिये सदा,
अनय से पर वस्तु न लीजिये।
नृप! कभी सुखदायक हैं नहीं,
सुत, रसा, घन साधन के बिना॥

८

समय है अनमोल, कुकर्म में,
तुम विनष्ट करो उसको नहीं।
दनुज! है जग में सुखदायिनी,
नियमहीन मही न महीप को॥

९

परम वीर चढ़े रघुवीर हैं,
तब पुरी पर वारिधि बाँध के।
क्षितिप! आकर के रिपु-राज्य में,
तनिक भीरु कभी रुकते नहीं॥

१०

(कवि, गुणी, बुध, वीर, नयज्ञ भी,
समझिये मन में निज को स्वयम्।
पर, बिना कुछ कार्य किये कभी,
न मन-मोदक मोद-कलाप है॥)

११

सब सुरासुर हैं वश आपके,
करगता यदि हों सब सिद्धियाँ।
तदपि हे दनुजेश्वर! जानना,
निज विनाशक नाशक राम को॥

१२

अखिल लोक नृपेश्वर राम को,
समझ के उनसे मिलिये अभी।
यह पुरी रघुनाथ रणाग्नि में,
दनुज! होम न हो, मन मे डरो॥

दर्शनीय दोहे

(१)

उपजे यदपि सुवंस में, खल तउ दुखद कराल।
चन्दन हूँ की आग लै, जरे देह तत्काल॥

(२)

मानी दीन न ह्वै सकैं, बरुक प्रान दें खोय।
बिना बुझे सपनेहुँ नहिं, पावक सीतल होय॥

(३)

अपने ते जो छुद्र अति, तिहि पै करिय न कोप।
किहूँ भाँति सोहत नहीं, केहरि-ससक विरोध॥

(४)

धीरज, उद्यम, बुद्धि, बल, साहस, शक्ति, सुनीत।
ये दस सुखदायक सदा, सुतिय, सुपूत, सुमीत॥

(५)

चिन्ता जननी चाह है, ताको पति अविवेक।
जो विवेक की चाह तो, राम-नाम जपु एक॥

(६)

जलचर, थलचर, साखाचर, नभचर, निसिचर तारि
जौ न हरज इक नरहु की, सुनवी गरज मुरारि ॥

(७)

चकई द्दग ज्यों रवि बसै, ज्यों कुलतिय द्दगलाज
त्योंही तुम मेरे हिये, नित निवसहु रघुराज

कामताप्रसाद 'गुरु'

[गुरुजी का जन्म सं० १९३२ वि० में, सागर (मध्यप्रदेश) के एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण-परिवार में हुआ। ये उर्दू, फ़ारसी, हिन्दी, अंगरेज़ी, संस्कृत, बङ्गला, उड़िया और मराठी के अच्छे ज्ञाता हैं। इनकी भाषा व्याकरण-सम्मत और सुष्ठ होती है। इनकी कविताएँ प्रसादगुण-सम्पन्न और भावुकतामय होती हैं। हिन्दी व्याकरण के ये विशेषज्ञ समझे जाते हैं। इन्होंने कितनी ही पुस्तकें लिखी हैं। 'हिन्दी का व्याकरण' इनकी बहुत प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। 'सुदर्शन नाटक' और 'हिन्दुस्तानी शिष्टाचार' नामक पुस्तकें आपने हाल ही में लिखी हैं।]

शील

(१)

संग्रह करो करोड़, जुटाओ धन अनगिन्ती।
ऊँचे आसन बैठि सुनो दासों की विन्ती॥
निज प्रभुता के हेतु करो तुम सब कुछ नीका।
किन्तु शील के बिना सभी है जग में फीका॥

(२)

कहते हैं कविलोग शील भारी भूषण है।
शील-हीन नर भूमिभार निजकुल-दूषण है॥
दान, मान, यश, रूप, शूरता, साहस वाले।
मोती सम हैं, सगुण शील-माला के दाने॥

(३)

शब्द-कोष में 'शील' शब्द व्यापक है इतना।
गीता में भी धर्म नहीं है व्यापक जितना॥
आगे रखकर शील, धर्म निज गुण दरसावै।
गुणवाचक सब नाम अकेला शील बनावै॥

(४)

शील, नम्रता, सबल सत्यता है अति प्यारी।
न्याय सहित है दया प्रेम पूरण अविकारी॥
सदाचार है शील, शील विद्या पढ़ना है।
तन-मन धन से सदा शील आगे बढ़ना है।

(५)

शील सत्य, वैराग्य दण्ड यति का धारण है।
यही यज्ञ, व्रत, कर्म परमपद का कारण है॥
यही ज्ञान, विज्ञान, यही है गुण चतुराई।
ऊँचे कुल का चिन्ह, देह-मन की रुचिराई॥

(६)

सब धर्मों का एक शील है छिपा खजाना।
अवगुण काले नाग जानते नहीं ठिकाना॥
धर्मशील के बिना यथारथ धर्म नहीं है।
शीलवान को सकल स्वर्ग-आनन्द यहीं है॥

(७)

शील त्याग नर वृथा धर्म का अभिलाषी है।
अपना अन्तःकरण सत्य इसका साक्षी है॥
कपट, क्रोध, अभिमान हिये से जिनके छूटा।
पुण्य उन्होंने कौन जगत में आकर लूटा॥

(८)

जिसने आदर सहित गुणी को नहीं बिठाया।
दीन प्रणाम विलोकि हाथ कुछ भी न उठाया॥
मधुर वचन सुन, मधुर वचन जो कभी न बोला।
विधि ने किया अनर्थ, दिया उसको नर-चोला॥

(९)

विद्या बढ़ती नहीं जिन्हें दीनों की भाती।
जिनकी इच्छा कुटिल आप-सुख में है माती॥
करें न जो स्वीकार दया अपने छोटे की।
धर्म करेंगे भला कौन ये लोग कुटेकी॥

(१०)

अपने चारों ओर देख दुख दारुण छाया।
एक विपल भी जिन्हें दुखी का ध्यान न आया॥
जिन्हें परोदय देख कष्ट होता है भारी।
क्या है जग को लाभ, हुए जो वे अधिकारी॥

(११)

निज भाषा का प्रेम, धर्म-रति, देश-भलाई।
होकर सब सम्पन्न जगत में जिन्हें न भाई॥
जीभ दबा कर बात जिन्होंने सदा उचारी।
ऐसे ही नर बने हुए हैं, धर्माचारी॥

(१२)

सब धर्मों को छोड़, शील-व्रत ही अब धारो।
शील धर्म है, गिरा हुआ है इसे उबारो॥
बीज कपट का बोय, सत्य-फल कहाँ मिलेगा?
अहो! शिला पर, कहो कमल किस भाँति खिलेगा?

सत्यनारायण (कविरत्न)

[सत्यनारायणजी का जन्म सं० १९४१ वि० में एक ब्राह्मण कुलमें हुआ था। धाँधूपुरा (आगरा) में ब्रह्मचारी बाबा रघुवरदासजी ने इनका भरण-पोषण किया और इनको पढ़ाया-लिखाया। इन्होंने बी० ए० तक अँगरेज़ी पढ़ी थी। कविता का शौक इन्हें छोटेपन से ही था। ये बड़े सीधे-सादे थे। ब्रजभाषा पर इनका बड़ा अधिकार था। इस भाषा में इन्होंने जो कविताएँ की हैं वे बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। आप खड़ी बोली में भी अच्छी कविता कर लेते थे। 'देशभक्त होरेशस्', 'उत्तर-रामचरित नाटक' तथा 'मालती-माधव' इनके रचे मुख्य ग्रन्थों में से हैं। सत्यनारायणजी ने फुटकर कविताएँ भी बहुत लिखी हैं। आपका कविता पढ़ने का ढंग बहुत ही उत्तम था। श्रोता चित्र लिखे से रह जाते थे। खेद है, १६ अप्रैल सन् १९१८ ई० को सत्यनारायणजी का देहान्त होगया।]

अपार महिमा

तिहारो को पावै प्रभु पार।

बिपुल सृष्टि नित नव विचित्र के चित्रकार आधार॥
मकरी के सम जगत-जाल यहि, सृजत और बिस्तारत।
कौतुक ही में हरत ताहि पुनि वेद पुरान उचारत॥
जग में तुम औ, तुम में सब जग 'वासुदेव' अभिराम।
सकल रंग तन बसत आपके, याही सों घनश्याम॥
परम-पुरुष तुम प्रकृति-नटी संग, लीला रचत अपार।
जग व्यापन सों विष्णु कहावत, अचरज तऊ अविकार॥

जितने जात समीप, दूर अति होत जात तब ज्ञान।
'सत्य' छितिज सम तरसावत नित विश्वरूप भगवान ॥

अगम थाह

को गुन अगम थाह तव पावै।
विश्वरूप अद्भुत अगाध अति, अनुपम किमि कहि जावै॥
रोम रोम ब्रह्माण्ड ग्रथित रवि, अनगिन ग्रह ससि तारे।
भ्रमत धुरी अपनी अपनी पै, निसि दिन न्यारे न्यारे॥
घूमत सकल चक्र मण्डल में, करत निरन्तर जोती।
इक आकरसन शक्ति डोरि में, मनहुँ पिरोये मोती॥
फूलभरी, मनहरी, हरी सिर, सारी रुसा बिराजै
उडुगन रुचिर नभस्थल प्रतिकृति, प्रिय तिह मधि जनु भ्राजै।
कबहुँ सघन घन नित नूतन तन, धावत द्रुत दरसावत।
विद्युत दमकत तिन ललाट सों, श्रम सीकर बरसावत।
मदमाती रसवती सरित कहुँ, रसनिधि अंक मिलाई
प्रकृति रम्य पुनि ऋतु परिवर्तन, चहुँ दिसि छवि छिटकाई।
होत विज्ञ बाचाल मूक लखि गति रहस्य-रस-राँची
भगवन् ! 'नेति नेति' तव कीरति, लसै अखिल जग साँची।

प्रार्थना

जयति जयति जननी—
अमल-कमल-दल-वासिनि, वैभवविपुल-विलासिनि।
नित नव-कला विकासिनि, मुद मङ्गल-करनी॥
भुवन विदित गुन रासिनि सुमधुर मञ्जुल भासिनि।
निज जन हृदयोल्लासिनि, श्रुति पुरान बरनी॥

दारिद-दुख-दल नासिनि, उर उत्साह प्रकासिनि ।
शान्ति सतत अभिलासिनि, त्रिभुवन मनहरनी ॥

उपालम्भ

माधव अब न अधिक तरसैये ।
जैसी करत सदाँ सों आये, वुही दया दरसैये ॥
मानि लेउ, हम क्रूर कुढंगी कपटी कुटिल गँवार ।
कैसे असरन सरन कहो तुम जन के तारनहार ॥
तुम्हरे अछत तीन-तेरह यह देस दसा दरसावै ।
पै तुमको यहिं जनम धरे की तनकहु लाज न आवै ॥
आरत तुमहिं पुकारत हम सब सुनत न त्रिभुवन राई ।
अँगुरी डारि कान में बैठे धरि ऐसी निठराई ॥
अजहुँ प्रार्थना यही आप सों अपनो विरुद सँवारो ।
'सत्य' दीन दुखियन की विपता आतुर आइ निवारो ॥

वसन्त

१

सौख्य-सुधा सरसाइये, सुभग, सुलभ, रसवन्त ।
वर-विनोद बरसाइये, वसुधा विपिन वसन्त ॥

२

दसदिसि द्युति दरसाइये, सजि सुरभित सुठि साज ।
जगप्रिय हिय हरसाइये, रति रसाल ऋतुराज ॥

३

अमित अनारन अम्बन, अमल असोक अपार ।
बकुल कदम्ब कदम्बन, पुनि पलास परिवार ॥

४

जहँ कोकिल कल बोलत, ठौर ठौर स्वच्छन्द ।
गुञ्जत षट्पद डोलत, पद पद पी मकरन्द ॥

५

जयति मधुर मनमोहन, जयति प्रकृति शृङ्गार ।
सुन्दर सब विधि सोहन, कीजिय विपुल विहार ॥

६

नित नव निरमल निरखौ, रमि सुरम्यता कुञ्ज ।
पुनि पुनि प्रमुदित परखौ, पूरन प्रियता पुञ्ज ॥

नवयुवक-चेतावनी

देश के कोमल हृदय कुमार,
सरल सहृदयता के अवतार।
तुम्हीं हो ऋषियों की सन्तान,
आर्यजन जीवन, धन अरु प्रान,
भारती गुण गौरव अभिमान,
कीजिये मातृभूमि उद्धार ॥ १ ॥ देश०
प्रबल पुनि सज्जनता के सद्म,
प्रेम-पद्माकर के प्रिय पद्म,
सदय सुन्दर सब भाँति अछद्म,
कीजिये नवजीवन सञ्चार ॥ २ ॥ देश०
सभ्यता के शुचि आदि स्वरूप,
मनोरञ्जन प्रतिमा के भूप,

विमल मति पावन परम अनूप,
कीजिये भ्रातृ प्रेम विस्तार ॥ ३ ॥ देश०
लीजिये ब्रह्मचर्य का नेम,
पालिये अखिल विश्व का प्रेम,
परस्पर होवे जिस से क्षेम,
कीजिये हिन्दी 'सत्य' प्रचार ॥ ४ ॥ देश०

करुणानिधि से विनती

झूमत ज्यों मतवारो मतंग,
सो प्रेमकी वेलि को होय न चेरो।
ज्ञान को आँकुस मानत ना,
मन मोह कुपंथ सों जात न फेरो ॥
'सत्य' जितै ही तितै चलि जात है,
ठीक न ठाक कछू यदि केरो।
कै करुणा करि बाँह गहो,
कि कहो करुणानिधि नाम न मेरो ॥

मैथिलीशरण गुप्त

[गुप्तजी का जन्म सं० १९४३ वि० में चिरगांव के एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में हुआ। आपके पिता सेठ श्रीरामचरणजी भी कवि थे। गुप्तजी ने बहुत सी कविताएँ लिखी हैं। हिन्दीजगत् में जितना आपका नाम प्रसिद्ध है उतना कदाचित् और किसी कवि का नहीं। गुप्तजी द्वारा रचित 'भारत-भारती' ने नवयुवकों को स्वदेशभक्ति की ओर आकृष्ट करने में बड़ी सहायता दी है। ऐतिहासिक विषयों पर गुप्तजी बड़ी सफलता पूर्वक काव्य-रचना करते हैं। 'जयद्रथ-वध', 'रंग में भंग', 'मेघनाद-वध', 'शकुन्तला', 'स्वदेश-संगीत', 'पञ्चवटी', 'पलासी का युद्ध', 'वीराङ्गना' आदि आपकी प्रसिद्ध काव्य पुस्तकें हैं।]

स्वर्गीय संगीत

(१)

नर हो न निराश करो मनको।
कुछ काम करो कुछ काम करो,
जग में रह के कुछ नाम करो।
यह जन्म हुआ किस अर्थ अहो,
समझो जिसमें यह व्यर्थ न हो।
कुछ तो उपयुक्त करो तन को,
नर हो, न निराश करो मन को॥

(२)

सँभलो कि सुयोग न जाय चला,
कब व्यर्थ हुआ सदुपाय भला?

समझो जग को न निरा सपना,
पथ आप प्रशस्त करो अपना ।
खेलेश्वर है अवलम्बन को
नर हो, न निराश करो मन को ।

(३)

जल तुल्य निरन्तर शुद्ध रहो,
प्रबलानल ज्यों अनिरुद्ध रहो
पवनोपम सत्कृतिशील रहो,
अवनीतलवद् धृतिशील रहो ॥
कर लो नभ-सा शुचि जीवन को,
नर हो, न निराश करो मनको ॥

(४)

जब हैं तुम में सब तत्व यहाँ,
फिर जा सकता वह सत्व कहाँ ।
तुम स्वत्व-सुधारस पान करो,
उठ के अमरत्व विधान करो ।
दव-रूप रहो भव कानन-को,
नर हो, न निराश करो मन को ॥

(५)

निज गौरव का नित ज्ञान रहे,
"हम भी कुछ हैं" यह ध्यान रहे ।
सब जाय अभी, पर, मान रहे,
मरणोत्तर गुञ्जित गान रहे ।

कुछ हो, न तजो निज साधन को,
नर हो, न निराश करो मन को ॥

(६)

प्रभु ने तुम को कर दान किये,
सब वाञ्छित वस्तु-विधान किये।
तुम प्राप्त करो उनको न अहो!
फिर है किसका यह दोष कहो?
समझो न अलभ्य किसी धन को,
नर हो, न निराश करो मन को ॥

(७)

किस गौरव के तुम योग्य नहीं?
कब कौन तुम्हें सुख भोग्य नहीं?
जन हो तुम भी जगदीश्वर के,
सब हैं जिसके अपने घर के
फिर दुर्लभ क्या उसके जन को?
नर हो, न निराश करो मन को ॥

(८)

करके विधिवाद न खेद करो,
निज लक्ष्य निरन्तर भेद करो।
बनता बस उद्यम ही विधि है,
मिलता जिससे सुख का निधि है।
समझो धिक् निष्क्रिय जीवन को,
नर हो, न निराश करो मन को ॥

ग्राम्य जीवन

अहा ! ग्राम्य जीवन भी क्या है, क्यों न इसे सबका मन चाहै।
थोड़े में निर्वाह यहाँ है, ऐसी सुविधा और कहाँ है ?
यहाँ शहर की बात नहीं है, अपनी अपनी घात नहीं है।
आडम्बर का नाम नहीं है, अनाचार का काम नहीं है॥

× × × ×

भोगों में वह भक्ति नहीं है, अधिक इन्द्रियासक्ति नहीं है।
आलस में अनुरक्ति नहीं है, रुपयों में ही शक्ति नहीं है॥
वह अदालती रोग नहीं है, अभियोगों का योग नहीं है।
मरे फौजदारी की नानी, दीवाना करती दीवानी ?
यहाँ गँठकटे चोर नहीं है, तरह तरह के शोर नहीं हैं।
गुण्डों की न यहाँ बन आती, इज्जत नहीं किसी की जाती॥
सीधे सादे भोले भाले, हैं ग्रामीण मनुष्य निराले।
एक दूसरे की ममता है, सब में प्रेममयी समता है॥
यद्यपि वे काले हैं तन से, पर अति ही उज्ज्वल हैं मनसे।
अपना या ईश्वर का बल है, अन्तःकरण अतीव सरल है॥
प्रायः सब की सब विभूति है, पारस्परिक सहानुभूति है।
कुछ भी ईर्ष्या-द्वेष नहीं है, कहीं कपट का लेश नहीं है॥
सब कामों में हिस्से लेकर, पति को अति सहायता देकर।
प्राणों से भी अधिक प्यारियाँ, हैं अर्द्धांगी ठीक नारियाँ॥
गुदने गुदे हुए हैं तन में, भरी सरलता है चितवन में।
थोड़े से गहने पहने हैं, क्या सब आपस में बहनें हैं ?

बात बात में अड़ने वाली, गहनों के हित लड़ने वाली।
दिखलाने वाली दुर्गतियाँ, हैं न यहाँ ऐसी श्रीमतियाँ॥
छोटे से मिट्टी के घर हैं, लिपे-पुते हैं, स्वच्छ, सुघर हैं।
गोपद-चिन्हित आँगन तट हैं, रक्खे एक ओर जलघट हैं॥
खपरैलों पर बेलें छाईं, फूली फली हरी मनभाईं।
काशीफल-कुष्माण्ड कहीं हैं, कहीं लौकियां लटक रही है॥
है जैसा गुण यहाँ हवा में, प्राप्त नहीं डाक्टरी दवा में।
संध्या समय गाँव के बाहर, होता नन्दन-विपिन निछावर॥
श्रमसहिष्णु सब जन होते हैं, आलस में न पड़े सोते है।
दिन दिन भर खेतों पर रहकर, करते रहते काम निरन्तर॥
अतिथि कहीं जब आजाता है, वह आतिथ्य यहाँ पाता है।
ठहराया जाता है ऐसे, कोई सम्बन्धी हो जैसे॥
हुआ अभी कोई फ़रयादी, तो न उसे आती बरबादी।
देती थाद उन्हें चौपालें, फिर क्यों वे घूँसें घर घालें?
जगती कहीं ज्ञान की ज्योती, शिक्षा की यदि कमी न होती।
तो ये ग्राम स्वर्ग बन जाते, पूर्ण शान्ति-रस में सन जाते॥

कथा-प्रसंग

'पद्य-प्रभा' के अनेक पद्यों में, कवि-महोदयों ने पौराणिक कथा-प्रसंगों की ओर संकेत किये हैं। इन प्रसंगों का यहाँ कुछ विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण किया जाता है। पुराणों में जो कथा जिस प्रकार वर्णन की गई है, हमने उसी का सार मात्र नीचे दे दिया है।

कबीर

पृष्ठ २, पंक्ति ६

'कहा विष्णु को घटि गयो, जो भृगु मारी लात' पुराणों में लिखा है कि एक बार देवताओं ने यह जानना चाहा कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश (महादेव) इन तीनों में सब से बड़ा कौन है। भृगुजी तीनों की परीक्षा के लिए नियुक्त किये गये। सब से प्रथम भृगुजी ब्रह्मा के पास पहुँचे और उन्हें अण्ड-बण्ड सुनाने लगे। ब्रह्माजी को भृगुजी की ऐसी बेढंगी बातों से बड़ा क्रोध आया। यहां तक कि वह उन्हें शाप देने के लिए तय्यार हो गये; परन्तु भृगुजी ने 'येन केन प्रकारेण' ब्रह्माजी को सन्तुष्ट कर लिया। इसके बाद वह महादेव के पास पहुँचे और लगे उनकी निन्दा करने। भृगु की बातें सुन कर महादेवजी को भी बड़ा गुस्सा आया, उन्होंने तो उन्हें मारने के लिए डण्डा तक उठा लिया! अस्तु; भृगुजी वहाँ से पीछा छुड़ा कर विष्णु के दरबार में पहुँचे। विष्णुजी लेट रहे थे, पहले तो भृगुजी ने उन्हें गालियां दीं, फिर उनके हृदय पर जोर से एक लात मारी। लात

खाकर विष्णु भगवान् उठ खड़े हुए और भृगुजी से बड़े विनय पूर्वक पूछने लगे—'भगवन्! मेरे कठोर हृदय पर प्रहार करने के कारण आपके कोमल चरण में चोट तो नहीं लगी?' विष्णु भगवान् की ऐसी सहनशीलता देखकर समस्त देवगण दंग रह गये और उन्हें ही सर्वश्रेष्ठ समझने लगे। 'कहा विष्णु को घटि गयो ......' दोहे में इसी कथा-प्रसंग की ओर संकेत किया गया है।

पृष्ठ ३, पंक्ति १६

'बिना जीव की स्वास से.........' मृतक की खाल से बनाई हुई धौंकनी में हो कर निकलने वाली आह (वायु) से आदमी तो क्या लोहा तक भस्म हो जाता है।

पृष्ठ ४, पंक्ति २२

'मीठो कहा अँगार को.........' चकोर पक्षी के अँगार खाने की बात प्रसिद्ध है। अँगारा जला देने वाली चीज है। न उसमें किसी प्रकार का स्वाद है और न पौष्टिक तत्त्व। परन्तु चकोर उस पर इतना मुग्ध होता है कि वह उसे खाये बिना रह नहीं सकता।

पृष्ठ ५, पंक्ति ५

'कहाँ वह फंद कहाँ वह पारधि' 'पारधि' छिपे हुए शिकारी को कहते हैं। यहां इन पंक्तियो से कवि का आशय माया-मृग मारीच के कपटपूर्ण व्यवहार से है। मारीच के कपट-मृग बनने के कारण सीताहरण हुआ यह कथा प्रसिद्ध है।

पृष्ठ ५ पंक्ति ७

'नीच हाथ हरिचन्द बिकाने.........' राजा हरिश्चन्द्र ने अपने अटल सत्य के कारण प्रथम तो रानी और राजकुमार को बेचा फिर स्वयं आप भंगी के हाथ बिके! ये सब तो मंजूर

किया परन्तु सत्य से कदापि विचलित न हुए। यह कथा प्रसिद्ध है।

पृष्ठ ५, पंक्ति ७

'बलि पाताल धरी' राजा बलि ९९ यज्ञ कर चुकने के बाद जब १०० वाँ यज्ञ करने लगा तो विष्णु भगवान् ने बावन अँगुल का ब्राह्मण-शरीर धारण कर उससे तीन 'पैंड़' ज़मीन दान में माँगी। बलि ने यह दान देना मंजूर कर लिया। विष्णु भगवान् ने तीन 'पैंड़ों' में तीनों लोक ले लिए और बलि को पाताल भेज दिया, यह प्रसिद्ध कथा है।

पृष्ठ ५, पंक्ति ८

'कोटि गाय नित पुन्न करत नृग.........' राजा नृग बड़ा दानी तथा ब्राह्मण-भक्त था। वह ब्राह्मणों को करोड़ों गौएँ दान दे चुका था। दान में व्यतिक्रम होने के कारण उसे ब्रह्मा ने शाप दिया। जिसके कारण नृगजी को 'गिरगिट' की योनि मिली और अन्धकूप में रहना पड़ा।

कितनी ही पुस्तकों में 'नृग' के स्थान में 'नृप' पाठ मिलता है, जो अशुद्ध है।

पृष्ठ ५, पंक्ति ११

'राहु-केतु औ भानु-चन्द्रमा.........' पुराणों में लिखा है कि देवताओं के मंथन करने पर जब समुद्र से अमृत निकला और वह देवताओं में बांटा गया तो उसे राहु राक्षस भी देवता का स्वरूप धारण कर पी गया। जब सूर्य और चन्द्रमा द्वारा यह बात भगवान् को मालूम हुई तो उन्होंने अपने चक्र से राहु के

दो टुकड़े कर दिये, जो राहु और केतु कहलाये। तब से राहु चन्द्रमा के पीछे पड़ा और केतु ने सूर्य के विरुद्ध युद्ध किया। यही भाव इन पंक्तियों में दिखाया गया है।

पृष्ठ ५, पंक्ति १४

तिरगुन=सत्, रज, तम।

सूरदास

पृष्ठ ७, पंक्ति ८

'अष्टछाप'—व्रज के आठ महाकवि अर्थात् सूरदास, कुँभनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास, और नन्ददास।

पृष्ठ ६, पंक्ति ११-२२

'नील, स्वेत पर पीत लाल.........'

'सनि, गुरु असुर, देवगुरु.........'

इन पंक्तियों में श्रीकृष्ण के शरीर, वस्त्र और आभूषणों के नील, स्वेत, पीत और लाल रंग की उपमा 'शनि, शुक्र (असुर गुरु), बृहस्पति (देवगुरु) और मंगल (भौम) से दी गई है। इन चारों का रंग क्रमशः नीला, सफेद, पीला और लाल माना गया है।

पृष्ठ १०-११

'अलिसुत प्रीतिकरी.........'

'सारंग प्रीतिकरी.........'

प्रसिद्ध है कि भौंरा (अलि) कमल से इतना अधिक प्रेम करता है कि सन्ध्या को सूर्यास्त के समय जब कमल संकुचित होता है तो वह स्वयम् भी उसमें मुँद जाता है।

इसी प्रकार हरिण (सारंग) का गाने पर मुग्ध होना प्रसिद्ध है। यहां तक कि वह अपने शिकारी के बाणों की कुछ भी परवा न कर उसके मनोमोहक गाने-बजाने पर सारी चौकड़ी भूल जाता है।

पृष्ठ ११, पंक्ति १०

'ज्यों पतंग हित.........' पतंग के प्रेमवश दीप-शिखा पर प्राण देने की बात प्रसिद्ध है।

पृष्ठ १२, पंक्ति ४

'गृह दपिक छन तेल.........' इसमें मनुष्य को पतंग मान कर उसके गृह की दीपक से, समय की तेल से, रुई की स्त्री से, और बेटे की अग्नि से उपमा दी गई है। अर्थात् मनुष्य रूपी पतंगे को उपर्युक्त आलंकारिक दीपशिखा पर प्राण देने वाला बताया है।

तुलसीदास

पृष्ठ १४, पंक्ति १८

'ज्यों गच कॉंच बिलोकि सेन.........' कई पुस्तकों में नीचे लिखा पाठ भी है—

'ज्यों गज कॉंच बिलोकि स्वान.........'

'गज कॉंच' पाठ मानने से बड़ा शीशा अर्थ करना ठीक होगा, और 'गचकॉंच' का अर्थ होगा गच अर्थात् दीवार पर लगा हुआ कॉंच। स्वान का अर्थ कुत्ता तथा सेन (श्येन) का अर्थ बाज़ है। हमारी समझ में 'ज्यों गच' वाला पाठ ही अधिक उत्तम जान पड़ता है, शेष पंक्ति का अर्थ स्पष्ट है।

पृष्ठ १५, पंक्ति ३

'*तजो पिता प्रह्लाद*.........' भगवद्भक्त प्रह्लाद ने अपने पिता हिरण्यकशिपु का इसलिये वहिष्कार कर दिया था कि वह देवताओं को मारनेवाला तथा दुष्ट था। प्रह्लाद सदैव 'राम राम' जपता रहता था, भला यह बात उसके देवताद्रोही पिता को कब पसन्द आ सकती थी! पिता पुत्र की यह घोर अनबन पारस्परिक दो विपरीत भावों की विद्यमानता के कारण थी। पुत्र हरिभक्त और पिता हरिद्रोही!

'विभीषन' के 'बन्धु' तजने और 'भरत' द्वारा 'माता' के वहिष्कृत होने की कथा प्रसिद्ध है।

पृष्ठ १५, पंक्ति ४

'*बलि गुरु तज्यो*.........' जिस समय विष्णुभगवान वावन का रूप धारण कर राजा बलि से तीन पैंड जमीन माँगने गये उस समय गुरु शुक्राचार्य ने उनका वास्तविक रहस्य समझ कर अपने शिष्य बलि से कहा कि—'तू इस ब्राह्मण को दान मत दे, नहीं तो पीछे पछतायगा।' परन्तु राजा बलि ने अपने गुरू का यह आदेश स्वीकार न किया।

पृष्ठ १५, पंक्ति १३

'*रविकर नीर बसै*.........' मृगमरीचिका (रविकर नीर) में माया (काल) रूपी दारुण मगर छिपा हुआ है। उसके मुँह नहीं है परन्तु वह बिना मुँह के ही उन सबको चट कर जाता है जो इस मृगमरीचिका को जल समझ कर उससे अपनी प्यास बुझाने का प्रयत्न करते हैं।

रहीम

पृष्ठ ३८, पंक्ति २

'पुरुष पुरातन······' पुरुषपुरातन अर्थात् विष्णु की की लक्ष्मी चंचला है। वह कभी कहीं और कभी कहीं रहती है। वृद्ध की (युवती) पत्नी का इस प्रकार अस्थिर होना स्वाभाविक ही है।

पृष्ठ ३६, पंक्ति १४

'मड़ये तर के गाँठि······' विवाह-मण्डप के नीचे (मंडयातर) वर-वधू के वस्त्रों को मिला कर जो गाँठ लगाई जाती है, उसमें संपूर्ण रूप से (आठ-गाँठ) रस होता है। 'आठ गाँठ' मुहावरा है, यथा—'आठ गाँठ कुमैत।'

पृष्ठ ४०, पंक्ति १२

'जिहि रज मुनिपतनी तरी' इन्द्र के साथ व्यभिचार करने के कारण अहल्या अपने पति गोतमजी के शाप से जंगल में पाषाण हुई पड़ी थी। जनकपुर जाते समय राम ने इस पाषाण-मूर्ति से कौतुक-वश अपनी लात लगादी, जिससे वह जीती जागती फिर ज्यों की त्यों अहल्या बन गई और अपने पति गोतम के पास चली गई। रहीमजी कहते हैं, जिस रज के स्पर्श से वह पाषाण-प्रतिमा तर गई थी उसी को 'गजराज' भी तलाश करता फिरता है।

पृष्ठ ४०, पंक्ति २०

'नारायण हू को भयो······' पहले कथा आ चुकी है कि राजा बलि से तीन पैंड़ जमीन माँगने के लिए विष्णु भगवान् को बावन अंगुल का रूप धारण करना पड़ा था। रहीमजी

कहते हैं कि माँगना इतना बुरा काम है कि उसमें बड़ों को भी छोटा बन कर ही सफलता प्राप्त होती है अर्थात् उन्हें भी लघुता या क्षुद्रता धारण करनी पड़ती है।

पृष्ठ ४१, पंक्ति ७-१०

'कदली सीप भुजंग.......'

'जैसी संगति बैठिये.......' जैसी सोहबत होती है वैसा ही असर होता है। कहते हैं कि एक ही स्वाँति की बूँद केले में पड़कर कपूर, सीपी में मोती और सर्प-मुख में पड़ कर विष बन जाती है।

पृष्ठ ४२, पंक्ति ४

'कहा सुदामा बापुरो.......' कृष्ण-सखा सुदामा की कथा प्रसिद्ध है कि वह अपनी दीनावस्था में किस प्रकार द्वारकापुरी गये और वहाँ उनका श्रीकृष्णचन्द्र ने कैसा स्वागत-सत्कार किया तथा किस प्रकार उन्हें सम्पन्न बनाया।

पृष्ठ ४२, पंक्ति ६

'हरि हाथी सों कब हती.......' किसी समय एक हाथी समुद्र में किलोल कर रहा था कि इतने ही में उसे एक भयंकर मगर ने आ दबाया! अब मृत्यु-मुख हाथी ने सर्वथा असहाय होकर भगवान् का स्मरण किया। भगवान् उसी समय वहाँ प्रकट हुए और उन्होंने उस ग्राह से गज का उद्धार किया। रहीमजी पूछते हैं कि क्या कभी हरि और हाथी का पूर्व परिचय था? नहीं; भगवान् तो स्वभावतः ही अपने भक्तों का कष्ट-मोचन किया करते हैं।

पृष्ठ ४२, पंक्ति १८

'प्यादे से फ़रजी भयो.........' शतरंज के खेलने वाले जानते हैं कि प्यादे और फ़रज़ी (वज़ीर) शतरंज के मुहरे होते हैं। प्यादा सदैव सीधा चलता है और फ़रज़ी उल्टा-सीधा सब तरफ़ को कुलाचें मारता है। रहीमजी कहते हैं कि अगर प्यादा फरजी बनजाता है तो वह अपनी सीधी चाल छोड़ कर, क्षुद्रता वश, इतराता हुआ टेढ़ा-टेढ़ा चलने लगता है अर्थात् वह दुरभिमान से पूर्ण हो जाता है।

रसखान

पृष्ठ ४४, पंक्ति १०

'पाहन हों तो वही गिरिको.........' पुराणों में लिखा है कि पहले समय में ब्रज में वर्षा ऋतु की समाप्ति और शरद के आरम्भ में इन्द्र की पूजा हुआ करती थी, परन्तु श्रीकृष्ण ने इस पूजा को व्यर्थ कह कर बन्द करा दिया और गोपियों तथा ग्वालों से कहा कि गोवर्द्धन पर्वत की पूजा किया करो; सब ने ऐसा ही किया। इससे इन्द्रजी बड़े अप्रसन्न हुए और ब्रज पर मूसलाधार वृष्टि करने लगे। तब श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत अपने हाथ से उठा कर ब्रज पर उसे छतरी की तरह तान लिया, जिससे इन्द्र की मूसलाधार वृष्टि से रक्षा हो सकी। इस पंक्ति में रसखान जी ने इसी पर्वत का 'पाहन' बनने की ओर संकेत किया है।

पृष्ठ ४४ पंक्ति १४

'आठों सिद्धि'—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व।

'नवौनिधि'—महापद्म, पद्म, शङ्ख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील और खर्व।

पृष्ठ ४५, पंक्ति २

'ताहि अहीर की छोहरिया'—इस पद में गोपियों की ओर संकेत किया गया है।

पृष्ठ ४६, पंक्ति १-२

'द्रौपदी कौ गनिका गज गीध.........'

'गोतम गेहिनी कैसी तरी.........' इन पंक्तियों में पुराणोक्त जिन कथाओं की ओर संकेत है उनका सारांश नीचे दिया जाता है—

'द्रौपदी'—युधिष्ठिर ने जुए में राजपाट हार कर द्रौपदी को भी दाव पर लगा दिया था। दुर्योधन ने द्रौपदी को भी जीत लिया और सभा में बुलाकर उसे नगा करना चाहा। दुष्ट दुःशासन जब द्रौपदी की साड़ी खींचने लगा और पांचों पाण्डव देखते रहे तब द्रौपदी ने श्रीकृष्ण को पुकारा। फिर क्या था, श्रीकृष्ण के प्रताप से साड़ी इतनी बढ़ गई कि दुःशासन उसे खींचते-खींचते थक गया, परन्तु उसका अन्त न आया।

'गनिका'—काशी में एक वेश्या रहती थी, वह अपने पालतू तोते को 'राम-राम' रटाया करती थी। जब वह मरी तो उसे यमदूत और स्वर्गदूत दोनों लेने आये। स्वर्गदूतों ने कहा कि यह वेश्या जन्म भर 'रामराम' रटती रही है अतएव स्वर्ग जानी चाहिये। बस वह 'राम-नाम' के प्रभाव से स्वर्गवासिनी हुई।

'गज'—विष्णु भगवान द्वारा गज के उद्धार की बात पहले ही लिखी जा चुकी है।

'*गीध*'—श्रीरामचन्द्र द्वारा गृध्रराज जटायु के उद्धार की कथा प्रसिद्ध है, रामायण पढ़ने वाले सब लोग उसे जानते हैं।

'*अजामिल*'—अजामिल नामक एक दुष्ट ब्राह्मण था, उसने अपने जीवन में कभी कोई अच्छा काम नहीं किया। अजामिल का नारायण नामक एक लड़का भी था। मरते समय अजामिल की सारी वासना अपने पुत्र में ही रही और वह अन्तिम श्वास तक 'नारायण' 'नारायण' पुकारता रहा। परिणाम यह हुआ कि अन्त समय में 'नारायण' का नाम लेने के कारण उसे नारायण लोक में स्थान मिला।

'गौतम-गेहिनी' = अहल्या—यह कथा पहिले ही लिखी जा चुकी है।

'*प्रह्लाद*'—हिरण्यकशिपु का भगवद्भक्त पुत्र था। रात-दिन राम की रटना लगाये रहता था। हिरण्यकशिपु को राम का नाम बहुत बुरा लगता था। उसने अपने बेटे को बहुतेरा समझाया-बुझाया परन्तु वह न माना और बराबर राम का जाप करता रहा। एक दिन हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को खम्भे से बाँध दिया और नंगी तलवार दिखाकर कहा—'ले, अब तेरा काम तमाम करता हूँ !! कहाँ है तेरा राम ? बुलाले उसे रक्षा के लिये !!!' प्रह्लाद के स्मरण करते ही नृसिंहावतार के रूप में भगवान् प्रकट हुए और उन्होंने हिरण्यकशिपु का पेट फाड़कर उसका काम तमाम किया।

बिहारीलाल

पृष्ठ ४७, पंक्ति १८

'*को घटि ये वृषभानुजा*'........बिहारीलालजी ने यहां व्यंग्यमयी भाषा में मीठा मजाक किया है। राधा और कृष्ण की

ओर संकेत करके आप कहते हैं कि इन दोनों में घनिष्ठता होनी ही चाहिये। क्योंकि राधिका वृषभ+अनुजा अर्थात् वैल की वहिन हैं। और वे (कृष्णजी) हलधर (वैल) के वीर (भाई) है। यहाँ विहारीलालजी ने वृषभानुजा और हलधर के अर्थों को अपने काव्यचातुर्य से बिल्कुल बदल दिया है। वास्तव में वृष-भानु+जा से वृषभानु की पुत्री राधा और हलधर से कृष्ण के भाई वलराम से अभिप्राय है। यह कविता का अद्भुत चम-त्कार है।

वृन्द

पृष्ठ ५४, पंक्ति १६

'राजहंस विन को करै......' प्रसिद्ध है कि राजहंस अपनी चोंच द्वारा, मिले हुए दूध और पानी को, अलग अलग कर देता है। यही 'चीर नीर न्याय' कहलाता है।

Printed by Satya Vrat Sharma at the Shanti Press, Agra.